कृष्णाङ्घ्रिपाथोजमधुव्रतस्य सदागमाभ्यासपरायणस्य ।
धृतावतारस्य नु कालिदासकवे रमेशस्य कृपाश्रयेण ॥

महाकविश्रीमत्पण्डितरामावतारमिश्रेण विरचितः

कथाकाव्यसंग्रहः

सम्पादक एवं टीकाकार
डॉ० शिवशङ्कर पण्डित

रुक्मिणी प्रकाशन
राँची, भारत

कृष्णाङ्घ्रिपाथोजमधुव्रतस्य सदागमाभ्यासपरायणस्य ।
धृतावतारस्य नु कालिदासकवे रमेशस्य कृपाश्रयेण ॥

महाकविश्रीमत्पण्डितरामावतारमिश्रेण विरचितः

कथाकाव्यसंग्रहः

(गणेशजन्म, शिवविवाहः, दक्षयज्ञविध्वंशः, श्मशानवासी हरिश्चन्द्रः, कीचकवधः, अशोकवर्तिनी सीता, कृष्णाभिसारिका, रुक्मिणीपरिणयः, मानिनी राधिका, श्रीसीताप्रादुर्भावम्, श्रीराधाचरितम्)

सम्पादक एवं टीकाकार
डॉ० शिवशङ्कर पण्डित
एम० ए०, बी० एल्०, पी-एच्०.डी०,
रीडर, अङ्गरेजी विभाग,
सेण्ट जेवियर्स कॉलेज, राँची (बिहार)

डॉ० निगम शर्मा
को सादर भेंट
शिवशङ्कर पण्डित
१५।१।८८

रुक्मिणी प्रकाशन
राँची, भारत

★ प्रकाशक :

रुक्मिणी प्रकाशन,

इन्द्रपुरी, राँची—८३४००५

बिहार, भारत

★ संस्करण : प्रथम, संवत् २०४१

★ मूल्य : २० रु० (बीस रुपये मात्र)

★ मुद्रक : राष्ट्रीय प्रेस, राँची

आमुख

कालिदास पुरस्कार से सम्मानित महाकवि श्रीमत्पण्डित रामावतार मिश्र (१३ जनवरी १८९९—२४ जून १९८४) विरचित कथाकाव्यसंग्रहः ग्यारह कथाकाव्यों का संकलन है। श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्[1] के आमुख में चर्चित गट्ठर में ही इन कथाकाव्यों की पाण्डुलिपियाँ थीं जिन्हें मिश्रजी ने मुझे सस्नेह सुपुर्द की थीं। श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम् तो मिश्रजी के जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गया था, किन्तु मेरे सतत् प्रयत्न के बावजूद कथाकाव्यसंग्रहः आज के पूर्व प्रकाशित नहीं हो सका।

कथाकाव्यसंग्रहः में ग्यारह काव्यकृतियाँ हैं—१. गणेशजन्म, २. शिवविवाहः, ३. दक्षयज्ञविध्वंशः, ४. श्मशानवासी हरिश्चन्द्रः, ५. कीचकवधः, ६. अशोकवर्तिनी सीता, ७. कृष्णाभिसारिका, ८. रुक्मिणीपरिणयः, ९. मानिनी राधिका १०. श्रीसीताप्रादुर्भावम्[2], और ११. श्रीराधाचरितम्। इनमें प्रथम नौ काव्यों का रचनाकाल १९३७ ई० है और अन्तिम दो का १९८२ ई०। पहले मैंने इन रचनाओं को खण्डकाव्य की कोटि में रखना चाहा था, किन्तु बाद में इनका नामकरण कथाकाव्य ही करना उचित समझा गया। काव्यकार की भी इसमें सहमति थी। सुविधा को ध्यान में रख कर इन कथाकाव्यों का प्रकाशन अलग-अलग नहीं करके एक साथ ही करना ठीक समझा गया और इस पुस्तक का नाम मैंने रखा कथाकाव्यसंग्रहः।

कथाकाव्य से मेरा तात्पर्य एक ऐसी विधा से है जिसमें कवि पुराण अथवा इतिहास से किसी कथानक को ले कर अपनी कल्पना का पुट देते हुए काव्य की रचना करता है जो मौलिक कृति बन जाती है। मिश्रजी के सारे कथाकाव्य बेजोड़ हैं और ऐसी आशा की जाती है कि संस्कृत-साहित्य के इतिहास में ये अद्वितीय स्थान रखेंगे।

श्रीगणेशजन्म में पार्वती ने शिव से पुत्र-प्राप्ति की प्रबल इच्छा प्रकट की है। फलस्वरूप शिव ने उन्हें पुण्यक नामक व्रत करने की राय दी जिसमें अत्यन्त पवित्र श्रीकृष्ण की आराधना की जाती है। यज्ञ में कई विघ्न आये, किन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से यज्ञ की समाप्ति हुई और श्रीगणेश का जन्म हुआ। इस कथाकाव्य का

---

१. श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम् की रचना पर ही महाकवि मिश्रजी को उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने कालिदास पुरस्कार-१९८३ से सम्मानित किया था।

२. पहले इसका नाम श्रीसीताचरितम् रखा गया था, किन्तु बाद में श्रीसीताप्रादुर्भावम् ही रखना महाकवि ने उचित समझा।

प्रधान रस शृङ्गार है और यह उपेन्द्रवज्रा छन्द में लिखा गया है। **शिवविवाहः** का प्रधान रस है हास्य। इसमें कवि ने दिखाया है कि किस तरह कन्या के माता-पिता उसके विवाह के लिए चिन्तित रहते हैं। बारात का स्वागत तन-मन-धन लगा कर करने पर भी कन्या पक्षवाले वर पक्षवालों को पूर्ण सन्तुष्ट नहीं कर पाते। जगदम्बा पार्वती के विवाह में कौन-सी कमी थी? नाना प्रकार के उत्तम, स्वादिष्ट एवं मधुर खाद्य-वस्तुएँ हिमालय के द्वारा भेजी गयीं, किन्तु शिवगण असन्तुष्ट ही रहे। उनलोगों ने शिकायत करते हुए कहा—

न हि विजया न तमालदलानि न हि कनकस्य च मूलफलानि।
इह न हि धूमजटा अहिफेनो गृहमिदमस्ति महाकृपणस्य ॥५५॥

दक्षयज्ञविध्वंशः में दक्षपुत्री सती अपने पति की बात नहीं मान कर हठवश अपने पिता के घर यज्ञ देखने जाती हैं। हठ का परिणाम तो बुरा होना ही था। उन्हें पिता ने अपमानित किया और उनके पति के सम्बन्ध में भी उन्होंने अभद्र बातें कहीं। सती से नहीं सहा जा सका और उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। इसके पश्चात् तो शिव एवं उनके गणों के द्वारा यज्ञ का विध्वंश होना ही था। इस कथाकाव्य में पति की अवज्ञा कर मैके जाने का दुष्परिणाम दर्शाया गया है। यह प्रमाणिका छन्द में लिखा गया है। **श्मशानवासी हरिश्चन्द्रः** वितृष्णापूर्ण वीभत्स रस का सुन्दर उदाहरण है। इसमें सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र की अन्तिम परीक्षा की कथा है। श्मशान का जीता-जागता चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। अन्त में, सत्य की जीत होती है। इस कथाकाव्य का छन्द है शार्दूलविक्रीडित। **कीचकवधः** का प्रधान रस है भयानक। विराट के घर में अज्ञातवास के समय पतिव्रता द्रौपदी पर कीचक के अनुरक्त होने तथा भीम द्वारा उसके वध की कथा इस कथाकाव्य में है। इसमें स्त्रियों के गहन एवं दुर्बोध चरित्र का भी वर्णन है। यह काव्य उपेन्द्रवज्रा छन्द में लिखा गया है। **अशोकवर्तिनी सीता** का प्रधान रस है करुण और छन्द है वियोगिनी। इसमें अशोकवाटिका में निशाचरियों द्वारा सीता की प्रताड़ना दिखाई गयी है। जीवन से ऊब कर भगवान् राम का नाम लेती हुई सीता अपने लम्बे केशों से फाँसी लगाने को उद्यत होती हैं, किन्तु इसी बीच हनुमानजी ने आ कर उनकी रक्षा की। उपजाति छन्द में रचित **कृष्णाभिसारिका** किसी कृष्णाभिसारिका नायिका की कथा है। कामविह्वला नायिका भयानक अंधेरी रात में निर्भीक अपने प्रियतम से मिलने जाती है और मिल कर अत्यन्त प्रसन्न होती है। इस कथाकाव्य का प्रधान रस है शृङ्गार। वसन्ततिलक छन्द में रचित **रुक्मिणीपरिणयः** रुक्मिणी एवं कृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम की कथा है। रसिकशिरोमणि कृष्ण ने रुक्मिणी के अगाध प्रेम को देख कर उनका हरण कर लिया और बेचारा रुक्मी अपमानित हो कर घर वापस लौट

आया। इस कथाकाव्य में श्रृङ्गार एवं वीर रसों का समन्वय दिखलाया गया है ; मानिनी राधिका का प्रधान रस है श्रृङ्गार और यह उपेन्द्रवज्रा छन्द में लिखा गया है। 'ललिता' शब्द सुनते ही राधा क्रोध से लाल हो जाती हैं और अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को फटकार देती हैं। श्रीकृष्ण के चले जाने पर राधा बेहाल हो जाती हैं। मालिन का वेश धारण कर श्रीकृष्ण राधा से एकान्त निकुञ्ज में मिलते हैं। राधा का मान तो भंग हो ही चुका था। रोमांचित एवं स्वेदयुक्त तन्वङ्गी राधा को श्रीकृष्ण ने आलिङ्गित किया। श्रीसीताप्रादुर्भावम् में सीता के रूप में परा-शक्ति के प्रादुर्भाव की कथा है। महाविष्णु के अवतार राम की पत्नी बन कर सीता ने भारत की रक्षा करने में तथा रावण के विनाश में उनकी सहायता की। लव और कुश नामक दो पुत्रों को जन्म दे कर वह पृथ्वी के गर्भ-द्वार के मार्ग से अपने धाम चली गयीं। यह काव्य उपजाति छन्द में रचित है। वियोगिनी छन्द में रचित श्रीराधाचरितम् श्रीकृष्ण एवं राधा में प्रेम एवं भक्ति की अपूर्व कथा है। पृथ्वी पर कपट, परपीड़न, हत्या, चोरी, लूट, आपसी कलह, वाक्कटुता आदि का व्यवहार देख आदिशक्ति समस्त विश्व के कल्याण के लिए राधा नाम से अवतरित हुईं। इन्होंने श्रीकृष्ण का साथ दिया और दोनों मिल कर मानवीय लीला करते रहे। दुष्टों का विनाश कर राधा ने संसार में शान्ति स्थापित की। अन्त में तो महाकवि ने यह रहस्य ही खोल दिया है कि श्रीकृष्ण एवं राधाजी हरि के ही दो रूप हैं।

सरस्वती के वरद पुत्र शाकद्वीपीय ब्राह्मण कुलोद्भव पण्डित रामावतार मिश्र बिहार राज्य के गया मण्डलान्तर्गत टेकारी निकटस्थ बेनीपुर ग्राम के निवासी थे, किन्तु इनका जन्म पौष कृष्ण नवमी शुक्रवार विक्रम संवत् १९५५ तदनुसार १३ जनवरी १८९९ ई० को इनके ननिहाल ग्राम मखपा में हुआ था जो इनके घर से एक मील की दूरी पर स्थित है। इनका बचपन विशेष रूप से मखपा में ही इनके नाना पं० भगवानी मिश्र की देख-रेख में बीता था। इनके पिता पं० वंशीधर मिश्र इनकी उन्नीस वर्षीय माता एवं दो वर्ष दो माह का इन्हें छोड़ प्लेग की चपेट में पड़ कर स्वर्गीय हो गये थे।

बारह वर्षों का बाल्यकाल बिताने के बाद ये गया पहुँचे और वहाँ पुरानी गोदाम के लब्धप्रतिष्ठ कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं० ज्वालाप्रसाद द्विवेदी के संरक्षण में रह कर पं० देवताचरण मिश्र के शिष्य बने और १९१४ ई० में इन्होंने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास की। बाद में उन्हीं के पौत्र पं० रमा प्रसाद मिश्र 'रमेश' के शरणापन्न हुए और १९२३ ई० में इन्होंने साहित्योपाध्याय (जो आज के 'आचार्य' के समकक्ष था) की परीक्षा पास की। साहित्योपाध्याय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने

के बाद मिश्रजी व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि का अध्ययन करने लगे। गुरु के आशीर्वाद से शीघ्र ही ये इन विषयों के पंडित बन गये।

पण्डित रामावतार मिश्रजी ने लिखा है कि इनके गुरु कोई साधारण व्यक्ति नहीं, अपितु सरस्वती के सद्य: अवतार थे और वे सभी शास्त्र, सभी विषय, सभी कलाओं के कोविद तथा रूप, गुण, शील, आचार-विचार, लोकप्रियता आदि में लोकोत्तर थे। गुणग्राही मिश्रजी ने अपने गुरु के सारे गुणों को ग्रहण किया। महाकवि मिश्रजी अपने गुरु के परम भक्त थे। इनका विश्वास था कि इन्होंने जीवन में जो कुछ भी पाया है अथवा किया है, वह अपने परम पूज्य गुरुदेव की कृपा से। इसी असीम भक्ति का फल महाकवि ने पाया है। गुरु की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति अपना जीवन कैसे सफल बना सकता है?

१९२८ ई० से मिश्रजी गया नगरस्थ प्रसिद्ध कान्यकुब्ज पाठशाला में अध्यापन कार्य करने लगे। कई साहित्य-समितियों एवं गोष्ठियों के सचिव तथा रसिक-विनोदिनी नामक पत्रिका के सम्पादक के रूप में इन्होंने अत्यन्त ही सराहनीय कार्य किया। जीवन के अन्तिम क्षणों तक ये गया के गुरुकुल महाविद्यालय में अवैतनिक प्राचार्य के पद पर आसीन रहे। आषाढ़ कृष्ण दशमी रविवार विक्रम संवत् २०४१ तदनुसार २४ जून १९८४ को मिश्रजी अपना पार्थिव शरीर त्याग स्वर्ग सिधार गये।

संस्कृत में काव्य-रचना का कार्य मिश्रजी ने १९१४ ई० में ही आरम्भ किया था। उस समय ये मात्र सोलह वर्ष के थे और प्रथमा की परीक्षा दे रहे थे। तब से जीवन के अन्तिम क्षणों तक ये लगातार लिखते गये। इनकी रचनाएँ इनके लगन, परिश्रम एवं अभूतपूर्व प्रतिभा के प्रतिफल हैं।

मिश्रजी संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान दक्षता रखते थे! रसिक-विनोदिनी इसका प्रमाण है। संस्कृत की रचनाओं में तो अपना नाम देने की परिपाटी है नहीं, किन्तु हिन्दी में है। हिन्दी की कविताओं में ये अपना उपनाम 'राम' रखते थे।

महाकवि रामवतार मिश्रजी का काव्य सुरभारती का शृङ्गार है। इनकी सारी रचनाएँ सरलता, प्रसाद गुण, अर्थ-सौष्ठव एवं अलङ्कारों के मञ्जुल प्रयोग से भरी हैं। मिश्रजी का अनुभव बड़ा व्यापक है। साथ ही इनमें जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता है। मिश्रजी को यह ज्ञात है कि किस प्रकार गागर में सागर भरा जा सकता है। मर्मस्पर्शी शब्दों के चयन में तो ये प्रवीण हैं। इनमें अपूर्व भावुकता है। संक्षेप में, भक्ति एवं शृङ्गार के अवतार मिश्रजी की सर्वाङ्गीण एवं व्यापक प्रतिभा वर्णनातीत है। सहृदय पाठक स्वयं इन काव्यों को पढ़ कर यह अनुभव करेंगे।

इन कथाकाव्यों की हिन्दी टीका मैंने यही समझ कर की है कि मात्र संस्कृत-प्रेमी ही नहीं, अपितु हिन्दी-प्रेमी पाठक भी इसका रसास्वादन कर सकें। गया मण्डलान्तर्गत टेकारी निकटस्थ पञ्चाननपुर निवासी श्री पण्डित सत्यनारायण मिश्र एवं इनके अनुज श्री पण्डित देवनारायण मिश्र के प्रति आभार प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं चूँकि इनकी सहायता से ही इन काव्यों की हिन्दी टीका सम्भव हो सकी है। यह पुस्तक कई मित्रों के सहयोग से प्रकाशित हो रही है जिनमें अनेक ने अपना नाम देने से मुझे रोका है। इस महान् कार्य में योगदान देनेवाले सभी मित्रों का मैं आभारी हूँ और उनकी मङ्गलकामना करता हूँ।

अन्त में सभी विद्वान् एवं सुधी पाठकों को यह ग्रंथ इस निवेदन के साथ अर्पित है कि यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ रह गयीं हों तो सूचित करने की कृपा करेंगे जिससे दूसरे संस्करण में उनका निराकरण हो सके।

पण्डित

एम० ए०, बी० एल्०, पी-एच्० डी०,
रीडर, अङ्ग्रेजी विभाग,
सेण्ट जेवियर्स कॉलेज, रांची (बिहार)

२५ दिसम्बर, १९८४.

उपक्रमणिका

—:०:—

कथाकाव्यसंग्रहः

गणेशजन्म

जगत्सु सारं तनयाननाब्जमवीक्षमाणा गिरिजा चिराय।
कदाचिदेकान्त निवासदेशमुपेत्य चोद्विग्नमना निषण्णा ॥१॥

बहुत दिनों तक संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु अपने पुत्र के मुखकमल को नहीं देखती हुई गिरिजा किसी समय एकान्त स्थान में चिन्तित मन बैठी थीं ॥१॥

तदैव शम्भुः समुपास्थितः स्वं निकेतनं शून्यमवेक्ष्य तूर्णम्।
प्रियां विचिन्वन् परितो विविक्ते जगाद दृष्ट्वा परिचिन्तयन्तीम् ॥२॥

उसी समय वहाँ आये हुए भगवान शङ्कर ने अपने घर को शून्य पा, तुरन्त चारों ओर अपनी प्रिया को खोजते हुए उन्हें एकान्त स्थान में चिन्तित देख कर कहा—॥२॥

किमित्युदास्से जगदेकहेतो! विविक्तदेशं श्रयसे कथं वा।
वद प्रिये चेत्कथनीयमस्ति प्रतिक्रियां तस्य कृतामवेहि ॥३॥

"हे जगत् के कारण! क्यों उदास हो रही हो? क्यों एकान्त स्थान में बैठी हो? हे प्रिये! यदि कुछ कहना है, तो कहो। उसका उपाय किया हुआ ही समझो" ॥३॥

उवाच शम्भोश्चरणौ प्रणम्य शिवा नमन्मुग्धसुधाकरास्या।
त्रपाकरश्चेदपि मेऽभिलाषो न किं निगाद्यो भवदन्तिकेऽसौ ॥४॥

नम्रमुखी पार्वती भगवान् शङ्कर के चरणों में प्रणाम कर बोलीं—"मेरी अभिलाषा लज्जाजनक होने पर भी क्या आपके नजदीक नहीं कही जा सकती है ॥४॥

सुखं परं चेत्किमपीह कान्त! रहोऽबलानां पतिसङ्गमोस्ति।
ततोधिकश्चापि सुताननाब्जनिरीक्षणं तन्न मयाऽनुभूतम् ॥५॥

"हे कान्त! महिलाओं के लिए महत्त्वपूर्ण सुख यदि कुछ है तो एकान्त-पति-सङ्गम ही और उससे भी बढ़ कर पुत्र-मुखकमल देखना है। उसका अनुभव मैंने नहीं किया है ॥५॥

पतिर्यदीयस्त्वमिवास्ति तस्या मनोरथः कोऽप्यवशिष्यते चेत्।
विचित्रमेतत्प्रतिभाति मेऽत्र कुदैवयोगस्य च वृत्तमस्ति ॥६॥

"जिसका पति आपके समान हो उसका मनोरथ शेष रह जाय, यह तो मुझे विचित्र मालूम पड़ता है। यह दुर्दैव संयोग की ही बात है" ॥६॥

जगाद शम्भुर्वचनं मनोज्ञं विहस्य, किं चिन्तयसीह कार्ये।
विनिन्दसि स्वां नियतिं कथं वा न पौरुषं दैवमपेक्षतेऽल्पम् ॥७॥

भगवान् शङ्कर हँस कर बहुत ही सुन्दर वचन बोले—"इस काम के लिए क्यों चिन्ता करती हो ? अथवा अपने भाग्य की निन्दा क्यों करती हो ? पुरुषार्थ थोड़ा-सा भी भाग्य की अपेक्षा नहीं करता ॥७॥

जपन्नजस्रं नियतिं मनुष्यो विबाधते स्वं सकलं महौजः।
समाश्रयन् पौरुषमल्पवीर्योऽप्यशेषकार्यं सफलं विधत्ते ॥८॥

"मनुष्य सदा 'भाग्य-भाग्य' जपता हुआ अपने सफल पराक्रम को बाधित कर देता है। अल्प बल वाला भी पुरुषार्थ को प्रधानता देता हुआ सम्पूर्ण कार्य को सफल बनाता है ॥८॥

विहाय चिन्तां प्रकृतिं भजस्व द्रुतं सुतार्थं क्रियतामुपायः।
ध्रुवं ध्रुवं सेत्स्यति तेऽभिलाषः प्रिये ! समुत्तिष्ठ कुरुष्व यत्नम् ॥९॥

'प्रिये ! चिन्ता छोड़ कर स्वस्थ हो जाओ। जल्दी पुत्र के लिए उपाय करो। तुम्हारी अभिलाषा निश्चय ही पूर्ण हो जायगी—यह निश्चय जानो। उठो, प्रयत्न करो॥९॥

व्रतं महत् पुण्यकनामधेयं व्रजेश्वराराधकमस्ति पुण्यम्।
प्रियेऽनुतिष्ठाशु तदेव सम्यङ् निजात्मजेनाङ्कमलङ्कुरुष्व ॥१०॥

"अत्यन्त पवित्र श्रीकृष्ण की आराधना करने वाला पुण्यक नामक व्रत है। प्रिये ! उसी का शीघ्र अच्छी तरह अनुष्ठान करो और अपने पुत्र से अपनी गोद को अलंकृत करो ॥१०॥

क्रतोर्विधानेन निमन्त्र्य विप्रान् विधाय सम्यग् वरणञ्च तेषाम्।
हरिं पुनः षोडशधा समर्च्य सहस्रपद्मैर्जुहुयान्नवीनैः ॥११॥

"यज्ञ-विधि के ब्राह्मणों को निमंत्रित कर उनको अच्छी तरह वरण कर कृष्ण की षोडशधा (सोलह प्रकार से) पूजन कर एक हजार नये कमल के फूलों से हवन करो ॥११॥

यतात्मचित्ताऽहरहर्व्रजेशमनन्यभक्त्या हृदि चिन्तयन्ती।
विधाय वर्षं, द्विजतोषकर्तृधनं वितीर्यैव समापयेत्तत् ॥१२॥

"संयमित हो कर प्रतिदिन अनन्य भक्ति से कृष्ण का ध्यान करती हुई एक वर्ष बिता कर ब्राह्मण को सन्तोष कारक धन दे कर उस व्रत को समाप्त करो" ॥१२॥

यदेवमत्रापि विलम्बसे किं शुभो विधिर्नक्षमते विलम्बम्।
इति ब्रुवाणा गिरिराजकन्या पदोः स्वभर्तुः पतिता प्रसन्ना ॥१३॥

"यदि ऐसा है तो अब विलम्ब क्यों करते हैं ? कल्याणकारी उपाय विलम्ब

नहीं चाहता"—ऐसा कहती हुई पार्वती प्रसन्न हो कर अपने स्वामी के चरणों पर गिरीं ॥१३॥

ब्रह्मादयः सर्वसुराश्च देव्यो महर्षयश्चापि सशिष्यवर्गाः ।
निमन्त्रिता यज्ञविधिं विधातुं ततः समारभ्यत पुत्रदेष्टिः ॥१४॥

यज्ञ का विधान करने के लिए ब्रह्मा आदि सभी देव-देवियाँ और शिष्यों के साथ महर्षिगण भी निमंत्रित हुए। तब पुत्रद यज्ञ आरम्भ हुआ ॥१४॥

ब्रह्मात्मजस्तत्र सनत्कुमारः पुरोहितत्वेन वृतोऽधियज्ञम् ।
होत्रादयः सप्तमहर्षयश्च सर्वे यथास्थानमुपागतास्ते ॥१५॥

उस यज्ञ में ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार ने पुरोहित के रूप से यज्ञ किया सप्तर्षि होता आदि सभी यथा स्थान पर आ गए ॥१५॥

ततः समाप्ते विधिनैव यज्ञे यद्दक्षिणां दातुमितोऽथ कालः ।
यथाभिलाषं सकलैरवाप्ता पुरोहितस्तुष्टिमगात्तु नैव ॥१६॥

तब विधि पूर्वक यज्ञ समाप्त होने पर दक्षिणा देने का समय आया। सब ने अपनी इच्छानुसार दक्षिणा पायी, किन्तु पुरोहित सन्तुष्ट नहीं हुए ॥१६॥

नाश्वान् गजान्नैव च गाः सवत्सा याचेऽत्र यज्ञे कनकादिकं वा ।
न किञ्चिदन्यच्च ममेषणीयं याचे परं यज्ञपतिं महेशम् ॥१७॥

(वह बोले—) "इस यज्ञ में घोड़ा, हाथी, सवत्सा गौ या सोना आदि मैं नहीं माँगता; मैं केवल यज्ञपति महेश को माँगता हूँ। और कोई दूसरी चीज मुझे नहीं चाहिए" ॥१७॥

श्रुत्वेति वाचं गिरिराजकन्या पत्यौ वितीर्णे स्वपुरोहिताय ।
कृतं क्रतुञ्चापि मनोरथश्चाफलं विचिन्त्याथ विचेतनाऽभूत् ॥१८॥

इस बात को सुन कर पार्वती अपने पुरोहित को अपना पति दे देने पर यज्ञ को पूर्ण किन्तु अपना मनोरथ असफल सोच कर चेतनाहीन (बेहोश) हो गयीं ॥१८॥

प्रिये ! किमेतत् स्थिरतामुपेहि कृतं शुभं कर्म न निष्फलं स्यात् ।
अदक्षिणश्चाप्यफलं विचिन्त्य वितीर्यतां पूरय सत्रमेतत् ॥१९॥

"हे प्रिये ! यह क्या ? स्थिर हो। किया गया शुभ कार्य निष्फल नहीं होता। दक्षिणाहीन यज्ञ निष्फल समझ कर अपना पति उन्हें दे दो। इस यज्ञ को पूरा करो" ॥१९॥

निशम्य शम्भोर्गिरमित्युदारां पुरोहितस्यापि हठं निरीक्ष्य ।
गिरीन्द्रकन्याहृदयं तदानीं शीतोष्णरश्म्यश्म समं बभूव ॥२०॥

इस प्रकार शिव के उदार वचन सुन कर एवं पुरोहित का भी हठ देख कर उस समय पार्वती का हृदय चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त मणि के समान हो गया ॥२०॥

विष्णुर्विरञ्चिस्त्रिदशाश्च धर्मस्तथागताः सर्वमुनीश्वरास्ते ।
तद्दक्षिणां दातुमनेकशस्तां प्राबोधयन् सत्रसमाप्तिकामाः ॥२१॥

यज्ञ समाप्त कराने की इच्छा से विष्णु, ब्रह्मा, देवगण, धर्म और वहाँ आये हुए सभी ऋषिगण ने उस दक्षिणा को दे देने के लिए अनेक प्रकार से उन्हें (पार्वती को) समझाया ॥२१॥

सनत्कुमारोप्यवदत्सतीं तां मद्दक्षिणामाशुतरं प्रदेहि ।
नोचेद् व्रतस्यास्य फलं मम स्यात् प्रयासमात्रं गिरिजे ! तवात्र ॥२२॥

सनत्कुमार ने भी सती से कहा—"मेरी दक्षिणा शीघ्र दें, नहीं तो इस व्रत का फल मेरा हो जायगा। हे पार्वती ! इसमें आपका प्रयास मात्र ही रहेगा ॥२२॥

इत्थं समाकर्ण्य पुनर्भवानी जगाद सुस्पष्टतरं तदानीम् ।
पत्यौ वितीर्णे क्रतुजं फलं किं मूलं विना किं विटपाभिषेकात् ॥२३॥

यह सुन कर भवानी उस समय स्पष्ट बोलीं—"पति के दे देने पर यज्ञ का फल व्यर्थ है, क्योंकि जड़ के बिना शाखाओं को सींचने से क्या होगा ? ॥२३॥

सत्स्वामिना किं न जगत्सु साध्वी संसाधयेद्दुष्करमर्थजातम् ।
व्यापारलाभोऽत्र कुतोह्यपेक्ष्यो मूले धने नश्यति दैवयोगात् ॥२४॥

"संसार में पतिव्रता अच्छे स्वामी से दुर्लभ धन क्यों नहीं प्राप्त करती है ? यहाँ भाग्य के संयोग से मूलधन के नष्ट हो जाने पर व्यापार में लाभ की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?" ॥२४॥

पुनः सुरेशाः मुनयश्च सर्वे पुनस्तथा श्रीगिरिराजकन्या ।
अनेकवादप्रतिवादमेत्य स्वं स्वं शुभं पक्षमथाभ्यपुष्यन् ॥२५॥

फिर देवगण, मुनिगण और पुनः पार्वती ने अनेक वाद-प्रतिवाद करके अपने-अपने प्रशस्त पक्षों को पुष्ट किया ॥२५॥

यदा च देवाः मुनयश्च विज्ञाः सतीं न तर्कैरशकन् विजेतुम् ।
तदा तु तां स्तोतुमुपाक्रमन्त वियद्गिराऽथो चकिताः बभूवुः ॥२६॥

और जब देवता, मुनि एवं विद्वद्गण सती को तर्क से नहीं जीत सके तब उन लोगों ने उनकी स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद आकाशवाणी से चकित हो गये ॥२६॥

पुरा पुरोधावचनानुकूलं दत्त्वा स्वकान्तं सति ! दक्षिणायाम् ।
गोमूल्य दानेन पुनस्तमाप्य फलं क्रतोराप्नुहि पुत्रमार्ये ! ॥२७॥

"ऐ सती ! पुरोहित के कथनानुसार दक्षिणा में पहले अपने पति को दे कर पुनः गो-मूल्य दान कर अपने पति को पा कर, हे आर्ये ! यज्ञ के फल पुत्र प्राप्त करो ॥२७॥

श्रुत्वेति वाचं गगनेरितां सा पतिं वितीर्य व्रतदक्षिणायाम् ।
पुरोहितं गोद्रविणेन तुष्टं कर्तुं न शक्ता ग्रहिलं स्ववाक्ये ॥२८॥

इस आकाशवाणी को सुन कर व्रत-दक्षिणा में पति को दे कर अपनी बात पर हठी पुरोहित को गो-मूल्य-धन से वह सन्तुष्ट नहीं कर सकीं ॥२८॥

अमूल्यमेतद्धनमस्ति शम्भुर्गोमूल्य दानेन कथं ददामि ।
अन्यस्य होतोर्न निजं सुरत्नं ददाति कोऽपाति पुरोधसोक्तम् ॥२९॥

पुरोहित ने कहा—"शम्भू अमूल्य धन हैं। इन्हें गो-मूल्य-धन से मैं कैसे दूँ? दूसरे के कारण कोई भी अपना अच्छा रत्न नहीं देता" ॥२९॥

सम्प्रार्थितोऽप्येष न मे पुरोधाः पतिं कथञ्चिद्वितरिष्यतीति ।
स्वजीवनं निष्फलमीक्षमाणा त्यक्तुं शिवा तत्समुपस्थिताऽभूत् ॥३०॥

बहुत प्रकार प्रार्थना करने पर भी यह पुरोहित मुझे किसी तरह मेरा पति नहीं देंगे। इस कारण अपना जीवन निष्फल समझती हुई पार्वती अपना जीवन-त्याग करने को प्रस्तुत हो गईं ॥३०॥

तदैव विद्युत्प्रभयानुलिप्तं वियत्समस्तैः सुजनैर्व्यलोकि ।
क्षणेन तत्रैव तडित्प्रकाशः कृष्णः समालोक्यत दिव्यरूपः ॥३१॥

उसी समय सभी सज्जन व्यक्तियों ने बिजली की चमक से प्रकाशित आकाश को देखा। वहीं पर तुरन्त बिजली की तरह प्रकाश वाले दिव्यरूप कृष्ण देखे गये।३१

तं वीक्ष्य तत्रस्थजनैः समस्तैः स्तोतुं समारभ्यत सामरेन्द्रैः ।
विलोक्य कृष्णोऽभिदधौ प्रसन्नस्त्रपावतीं नम्रमुखीं भवानीम् ॥३२॥

उन्हें वहाँ देख कर इन्द्र के साथ सभी स्तुति करने लगे। प्रसन्न कृष्ण लज्जा से नम्रमुखी भगवती को देख कर बोले—॥३२॥

मनोरथस्ते विदितोस्ति भद्रे ! ममानुरूपं सुतमीहसे त्वम् ।
तवाभिलाषोऽचिरमेव साध्वि ! सम्पत्स्यते नैव विधेहि चिन्ताम् ॥३३॥

"भद्रे ! तुम्हारा मनोरथ मुझे ज्ञात है। तुम मेरी तरह पुत्र चाहती हो। सती ! तुम्हारी अभिलाषा शीघ्र ही पूरी होगी। चिन्ता मत करो" ॥३२॥

सनत्कुमारं परितोष्य गोभिः प्रदाप्य शम्भुं गिरिराजपुत्र्यै ।
संस्तूयमानो व्रजनायकोऽसावन्तर्दधे तेऽपि गताः प्रसन्नाः ॥३४॥

सनत्कुमार को गायों से सन्तुष्ट कर, पार्वती को शम्भू (पति) दिला कर, लोगों से स्तुत व्रजनायक अन्तर्धान हो गये। अन्य लोग भी चले गये ॥३४॥

ततः प्रसन्नौ गिरिजामहेशौ रतोत्सवं कर्तुमुपाक्रमेताम् ।
गतेष्वनेकेषु च हायनेषु कामो न तं जेतुमलं बभूव ॥३५॥

इसके बाद प्रसन्न पार्वती-महेश ने रतोत्सव करना आरम्भ किया। अनेक वर्षों के बीत जाने पर भी काम उनको नहीं जीत सका ॥३५॥

ततो हरिर्ब्राह्मणरूपधारी समागतस्तत्र तदैव गौरी ।
उत्थाय कुत्रापि गता सलज्जा पपात तल्पे च शिवस्य तेजः ॥३६॥

तब ब्राह्मण रूपधारी कृष्ण वहाँ आये। उसी समय लजाती हुई पार्वती कहीं चली गयीं और शिव का तेज शय्या पर गिर पड़ा ॥३६॥

तत्रैव बालो रमणीयमूर्तिश्चतुर्भुजः पल्लवताम्रवर्णः ।
शिवेन दृष्टश्चकितेन तूर्णम् हरिर्न कुत्रापि निरीक्षितोऽभूत् ॥३७॥

शीघ्र वहीं चार भुजा वाले पल्लव की तरह लाल वर्ण के बालक को शिव ने देखा। कृष्ण कहीं भी नहीं दीख पड़े ॥३७॥

सुतोद्भवेनाथ गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रमोदपूरो हृदि योऽभिजातः ।
स तं विजानीत चिरेण येन निरीक्षितं पुत्रमुखेन्दुविम्वम् ॥३८॥

पार्वती पुत्र का मुखचन्द्र देख सकीं और पुत्रोत्पन्न होने से उनके हृदय में जो आनन्दातिशय हुआ उसे वही जान सकता है जिसने विलम्ब से पुत्र का मुखचन्द्र देखा है ॥३८॥

जगज्जनन्या यदपीह सर्वे सुता न ते मोदकरास्तथासन् ।
स्वकान्तसङ्गेन यथा प्रजाते सुते परा प्रीतिरिदं न चित्रम् ॥३९॥

यद्यपि यहाँ जगत्-जननी के पुत्र सभी हैं, तथापि अपने पति के सङ्गम से उत्पन्न पुत्र से जैसी प्रीति होती है, उस तरह आनन्दकारी वे नहीं हुए। यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥३९॥

निमन्त्रिताश्चाथ सुरा ग्रहाश्च विद्याधराद्याश्च तथोपदेवाः ।
सुरर्षयः सिद्धगणाश्च सर्वे मुदा विमानैः समुपेयुरत्र ॥४०॥

इसके बाद यहाँ निमन्त्रित देवता, ग्रह, विद्याधर आदि उपदेव, देवर्षिगण, सिद्धगण-- सब आनन्द के साथ विमान से आये ॥४०॥

शिवाङ्कसंस्थं नवकञ्जनेत्रं प्रतप्तजाम्बूनददेहभासम् ।
चतुर्भुजं स्थूलतनुं निरीक्ष्य शिशुं प्रसन्नाः सकलाः बभूवुः ॥४१॥

सभी लोग पार्वती की गोद में नये कमल की तरह नेत्र वाले, तपा हुआ सोना की तरह कान्तिपूर्ण देह वाले, स्थूल शरीर, चतुर्भुज, शिशु को देख कर प्रसन्न हुए ॥४१॥

शनैश्चरस्तत्र समागतोऽपि द्रष्टुं शिशुं जातमनोरथोऽपि ।
दृष्टिं निजां क्रूरतमां विचार्य चकार नोत्साहमसावलोके ॥४२॥

वहाँ शनैश्चर भी आ गये। बच्चे को देखने के लिए इच्छुक होते हुए भी अपनी दृष्टि को क्रूर समझ कर उन्होंने उसे देखने का उत्साह नहीं किया ॥४२॥

नताननं तं प्रसमीक्ष्य गौरी जगाद किं पश्यसि मे सुतं न ।
स्वदृष्टिदोषं प्रथयँश्च मन्दो निरीक्षणं व्याहृतवान् शिशोः सः ॥४३॥

पार्वती ने उसे नीचे मुँह किया हुआ देख कर कहा—'मेरे बच्चे को क्यों नहीं देखते ?'' उस शनैश्चर ने अपना दृष्टिदोष बताते हुए **शिशु** को देखने के लिए कहा ॥४३॥

इदं जगच्छ्री जगदीशमायावशात्स्वकर्मानुगुणं प्रयाति ।
दैवं न कश्चित्परिवर्तयेत्तद्विलोक्य बालं कृतकृत्य एधि ॥४४॥

यह संसार ईश्वर की माया से अपने कर्म के अनुकूल चलता है। कोई भी भाग्य नहीं बदल सकता। इस बच्चे को देख कर आप कृतकृत्य हों ॥४४॥

शिवाज्ञयाथोनिजकर्मसाक्ष्ये निधाय धर्मं शिशुदर्शनाय।
उत्थापयत्येव शनैश्चरेऽक्षिद्वयं प्रणष्टं शिशुमस्तकं तत् ॥४५॥

इसके बाद पार्वती की आज्ञा से धर्म को अपने कर्म का साक्षी बना कर शनि के द्वारा बच्चे को देखने के लिए दोनों आँखें उठाते ही उस बच्चे का मस्तक नष्ट हो गया ॥४५॥

ततः समान्ताद्रुदतां जनानां हा हेति शब्दः प्रसृतस्तदानीम् ।
हरिर्निजं चक्रमथाददानस्ततः शिशुं जीवयितुं जगाम ॥४६॥

उस समय चारों ओर रोते हुए लोगों के ''हा हा'' शब्द फैल गये। तब बच्चे को जीवित करने के लिए कृष्ण अपना चक्र ले कर वहाँ से चले ॥४६॥

कदाचिदिन्द्रः सहरम्भयासौ गतस्तटिन्या रमणीयकूले ।
तया विहारे निरतो यदाऽभूद्दुर्वाससाऽगम्यत तत्र देशे ॥४७॥

इसी समय इन्द्र रम्भा के साथ नदी के रमणीय तट पर गये। जिस समय वह उसके साथ विहार में लगे हुए थे; उसी समय दुर्वासा ऋषि वहाँ आ गये ॥४७॥

निरीक्ष्य तं स्थैर्यमवाप्य तूर्णं ननाम नम्रत्वमिवाददानः ।
समादृतस्तेन हरिः प्रमोदं लेभे वहिर्नो हृदये तु कामी ॥४८॥

तुरन्त धैर्य धारण कर सिर भुकाये की तरह इन्द्र ने उन्हें देख कर प्रणाम किया। मुनि से समादृत वह कामी हृदय बाहर से तो खुश हुआ, किन्तु हृदय से नहीं ॥४८॥

वितीर्य तस्मै भगवत्प्रसाद स्रजं मुनीन्द्रो हरये प्रसन्नः ।
ततः प्रभावं च तदीयमुग्रं जगाद चाश्चर्यविधायकं सः ॥४९॥

इन्द्र को भगवान् के प्रसाद-स्वरूप पुष्प-माला दे कर प्रसन्न मुनिवर ने उसके आश्चर्यजनक एवं अत्यन्त उग्र प्रभाव को भी कहा—॥४९॥

यन्मस्तके तिष्ठति माल्यमेतत्स विश्वजेता प्रथमार्चनीयः ।
सुरप्रधानश्च सुबुद्धितेजोज्ञानी तथा विघ्ननिवारकः स्यात् ॥५०॥

''जिसके सिर पर यह माला रहेगी वह **विश्वविजेता**, प्रथम पूजा प्राप्त करने वाला, देवों में प्रधान, सुबुद्ध, तेजस्वी, ज्ञानी और विघ्न-विनाशक होगा'' ।५०

यो गर्वतो माल्यमिदं न मूर्ध्ना दधाति यश्चापि तिरस्करोति ।
भक्तिं न यश्चात्र करोति तूर्णं स श्रीहतत्वं भजतेऽवमानात् ॥५१॥

जो घमण्ड के कारण इस माला को सिर पर धारण नहीं करेगा या जो इसका तिरस्कार करेगा या जो इसमें भक्ति नहीं रखेगा वह इसके अपमान से शीघ्र ही श्रीहत हो जायगा ॥५१॥

इत्थं निगद्याथ गते महर्षौ निधाय माल्यं गजराजकुम्भे ।
पुनर्मरुत्वान् रमणाय रम्भामुपागतश्चापि न सत्कृतोऽभूत् ॥५२॥

इस प्रकार महर्षि द्वारा कहे जाने के बाद गजराज के सिर पर माला रख कर इन्द्र पुनः रमण के लिए रम्भा के पास गये, किन्तु वहाँ उन्हें उससे सत्कार नहीं मिला ॥५२॥

तं श्रीहतं वीक्ष्य सुरेशमेषा गता तिरस्कृत्य धनाभिलाषा ।
गजाधिराजो धृतमस्तकस्रग् विहर्तुकामश्च वनं जगाम ॥५३॥

धन चाहने वाली यह (रम्भा) श्रीहत इन्द्र को देख उन्हें तिरस्कार कर चली गयी। गजराज भी सिर पर माला लिये हुए विहार करने के निमित्त जङ्गल में चला गया ॥५३॥

तस्येभराजस्य शिरोऽथ विष्णुश्छित्वा स्वचक्रेण शिवात्मजस्य ।
देहेन संयोजितवान्, स बालो गजाननः सन्धृतजीवनोऽभूत् ॥५४॥

इसके बाद विष्णु ने उस गजराज का सिर अपने चक्र से काट कर शिवपुत्र की देह से जोड़ दिया। वह बालक गजानन हो कर जीवित हो गया ॥५४॥

महान् प्रमोदस्तु तदा बभूव यथा पुरा चापि महोत्सवोऽभूत् ।
जगुश्च गानाधिकृताः मनोज्ञं नटाश्च नट्यो ननृतुश्च रम्यम् ॥५५॥

जैसा महोत्सव पहले हुआ था, वैसा ही महान् आनन्द उस समय भी हुआ। गान के अधिकारियों ने सुन्दर गीत गाये एवं नट और नटियों ने सुन्दर नृत्य किये ॥५५॥

वाद्यानि गम्भीररवाणि तत्र समाह्वयन् वर्हिगणान् सुदूरात् ।
बेदस्तवैर्देवगणाः प्रमोदात्समस्तुवँस्ते समहर्षिसङ्घाः ॥५६॥

वहाँ दूर-दूर से गम्भीर ध्वनि वाले वाद्य एवं वर्हिगण (मोर) बुलाये गये। महर्षियों के साथ देवगणों ने सानन्द वेदमन्त्रों से स्तुति की ॥५६॥

इति गणेशजन्म ।

शिवविवाहः

निजतनयामवगम्य गिरीशो गिरिशसमर्पितमानसवृत्तिम् ।
विविधतपोव्रतमोहितकान्तां सपदि समर्पयितुं स इयेष ॥१॥

अनेक प्रकार के तप और व्रत करने के कारण मुग्धकारी शरीर वाली अपनी पुत्री को शिवजी में अपना मन लगायी हुई जान कर हिमालय ने शीघ्र ही उसे (पार्वती को) उन्हें अर्पित करने की इच्छा की ॥१॥

वरवरणञ्च तदाशु विधातुं तदुचितमद्भुतमेककपालम् ।
नवगजचर्म विभूतिचयं चागमयदसौ वरविप्रकरेण ॥२॥

वर वरण करने के लिए उसके योग्य (शङ्करजी) के पास उन्होंने शीघ्र ही तीन वस्तुओं--खप्पड़, हाथी का नया चमड़ा और विभूति—को एक श्रेष्ठ ब्राह्मण के हाथ पहुँचाया ॥२॥

विशदविशालदृषच्चयचारुं स्मरहरपुञ्जितहासमिवासौ ।
द्रुमलतिकालिविराजितश्रृङ्गं वरवसतिं धनदाचलमायात् ॥३॥

शिवजी के एकत्रित अट्टहास के समान स्वच्छ एवं विशाल पत्थर-समूह, वृक्ष, लताएँ और भ्रमरों के रहने से सुन्दर श्रृङ्ग वाले कुबेराचल-स्थित वर के निवास-स्थान पर (ब्राह्मण) आये ॥३॥

क्वनु शिवसद्म विततगिरिभूमाविति परिचिन्त्य चलति वरविप्रे ।
रविरभिगन्तुमियेष प्रतीचीमरुणमपिद्युतिमाप स शैलः ॥४॥

यह सोचते हुए विप्रवर चल रहे थे कि उस पर्वतीय भूमि पर शिवजी का घर कहाँ है, उसी समय सूर्य पश्चिम दिशा की ओर जाने लगे। तब उस पर्वत ने रक्तमणि की द्युति धारण कर ली ॥४॥

विततलता जटिलः सितशोभो नव विधुमञ्जुकराङ्कितभालः ।
गिरिरयमस्त्यथवास्ति गिरीशो भ्रममिति वीक्ष्य तमाप स विप्रः ॥५॥

फैली हुई लतारूप जटावाला, उज्ज्वल शोभा-सम्पन्न नूतन एवं सुन्दर चन्द्र-किरणों से सुशोभित ललाट वाला यह पर्वत है अथवा यह स्वयं शिवजी ही हैं—ऐसा भ्रम में पड़े हुए वह विप्र वहाँ पहुँच गये ॥५॥

तनुतमसावृतभूमिविभागे कथमिव मे गमनं पुरतः स्यात् ।
तदनु ददर्श समन्तत आरादनलशिखामिति चिन्तितचेताः ॥६॥

भूमि पर जब थोड़ा-थोड़ा अन्धेरा फैल रहा था तब (ऐसा सोचते हुए कि अब आगे कैसे चलना सम्भव होगा) उस चिन्तित चित्त वाले ब्राह्मण ने सामने सर्वत्र अग्नि की लपट देखी ॥६॥

वयमिव केऽपि कुतश्चिदुपेता विदधति पाकविधिं परितः किम् ।
इति गणयन् मनसा द्विजराजस्तदुपजगाम ददर्श च चित्रम् ।।७।।

मेरे ही समान कहीं से आये हुए लोग क्या चारों ओर रसोई बना रहे है ? मन मे ऐसा सोचते हुए वह ब्राह्मण नजदीक चले गये और वहाँ जा कर उन्होंने विचित्र स्थिति देखी ।।७।।

ज्वलिततमाः सरसास्ततशाखा हरितदला लतिका अवलोक्य ।
विततमुखोद्गतवह्निविकासा किमिदमरे कथयन्ति परेताः ।।८।।

प्रज्वलित सरस एवं हरे पत्र वाली लताओं को देख कर वह ब्राह्मण आश्चर्य-चकित हो कर सोचता है--अरे ! ये प्रेत मुख से आग निकालते हुए क्या कह रहे है? ८

तदुप निरीक्षणभीतिसकम्पं मनुमसकृत्प्रजपन्तममुं ते ।
विकटरवं मिलिताः प्रविहस्य द्विजमवदन् वदनानि वितत्य ।।९।।

जब प्रेत को देख कर डर से काँपता हुआ ब्राह्मण मन्त्र जपने लगा तब वे सब मिल कर घोर गर्जन से अट्टहास करते हुए मुँह फैला कर कहने लगे —।।९।।

अनवरतं श्रुतिपूरितकर्णाः किमु तव मन्त्रबलेन विभीमः ।
इह कथमागतवान् कथयास्मान् चल सदने विततास्थिचये नः ।।१०।।

"लगातार वेदध्वनि सुनने वाले हम क्या तुम्हारे मन्त्रबल से डरेंगे ? बोलो, तुम यहाँ क्यों आये हो ? हमारे घर चलो, जहाँ हड्डियों के ढेर पड़े हैं ।१०।

शिवसदनं वितताद्भुतजीवास्तदधिकचिह्नसमन्वितभूमिः । वदताद्भुत
परिणयकारणतोऽस्य गिरीन्द्र प्रहित इहागतवान् वरणार्थम् ।।११।।

"हे अद्भुत प्राणियों ! मृतकों के अवशेष चिह्नों (हड्डियों वगैरह) से युक्त गृह वाले शिव के विवाह के निमित्त हिमालय द्वारा भेजा हुआ उनके (शिव के) यहाँ आया हूँ" ।।११।।

गुरुतरभोगभयङ्करदन्ता गरलचयं सततञ्च वमन्तः ।
भुजगवराः प्रसरन्ति हि यत्र द्विज ! तमवेहि हरालयमुग्रम् ।।१२।।

"हे विप्र ! जहाँ पर विशालकाय, भयंकर दाँत वाले, विष उगलने वाले बड़े-बड़े साँप घूमते रहते हैं, उसे ही आप शिवजी का घर समझें ।।१२।।

चल वयमेव नयाम इदानीमिति कथयत्स्वथ कश्चन तेषु ।
द्विजमधिरोप्य ततं निजपृष्ठं गतिमवलम्ब्य चचाल मृगस्य ।।१३।।

"(हे ब्राह्मण !) आप चलें, हमलोग ही आप को वहाँ ले चलेंगे ।" यह कहने वालों में से एक ब्राह्मण को अपनी पीठ पर बैठा कर हरिण की-सी तीव्र गति से चलने लगा ।।१३।।

दृढमवलम्ब्य तदंसमथातः प्लुतिपतनाकुलमानसचेष्टः ।
द्रुततरमेव तदाचलशृङ्गं धवलतरं हरसद्म स नीतः ।।१४।।

गिरने के डर से आकुल मन वाले ब्राह्मण उसके कन्धे को जोर से पकड़े हुए विस्तीर्ण एवं उजले शिखर वाले शङ्कर के घर पर पहुँचाये गये ।।१४।।

शिव उपलभ्य निजप्रियवस्तु द्विजकरतः प्रससाद नितान्तम् ।
तदनुहिमाचलमाशु प्रयातुं सकलसुरान् प्रमुदाह्वयदेषः ।।१५।।

ब्राह्मण के हाथ से अपनी प्रिय वस्तुओं को पा कर शङ्कर जी अत्यन्त प्रसन्न हुए । उसके बाद शीघ्र ही हिमालय के पास पहुँचने के लिए उन्होंने सभी देवताओं को सादर बुलाया ।।१५।।

किमिति हरोऽपि समाधिपरोऽसौ स्त्रियमभिवाञ्छतिचञ्चलचेताः ।
सुरवनिता इति कौतुकपूर्णास्तदुपनिमन्त्रणमाप्य बभूवुः ।।१६।।

शङ्कर जी का आमन्त्रण पा कर स्वर्ग की देवियाँ मन में यह सोच कर अत्यन्त उत्सुक हो उठीं कि क्या समाधि लगाने वाले शिव भी चञ्चलचित्त हो कर स्त्री की कामना करते हैं ? ।।१६।।

सकलसुराः सगणा वरगेहं विविधभयङ्करभूत प्रचारम् ।
परिणयदर्शनलोलुपचित्ताः समुपययुर्मुदिता मिलिताश्च ।।१७।।

सब देवता अपने गणों के साथ आपस में मिल कर प्रसन्नचित्त हो शङ्कर का विवाह देखने के लिए उत्सुक हो कर भयंकर भूत आदि से भरे हुए शङ्कर के घर आ पहुँचे ।।१७।।

करधृततत्समयार्हं पदार्था मुदिततमाः कृतगानविधानाः ।
परिणययोग्यमथो वरवेशं रचयितुमस्य गणाः परिवव्रुः ।।१८।।

इसके बाद शङ्कर जी के गण लोग अपने-अपने हाथों में उस समय की उपयुक्त वस्तुओं को ले कर प्रसन्न हो गीत गाते हुए शङ्कर को वर-वेश में सजाने के लिए चारों ओर खड़े हो गये ।।१८।।

वपुरुदवर्तयदस्य च काचिद्धवलतरास्थि विभूति चयेन ।
चरणयुगं विदधौकृतरागं गजरूधिरेण च कापि पिशाची ।।१९।।

किसी भूतिनी ने उजली हड्डियों के भस्म से उनके शरीर में उबटन लगाया । किसी स्त्री ने उनके दोनों पैरों को हाथी के रक्त से रंग दिया ।।१९।।

असितपरेतमहीभसितेन त्रिपुररिपोस्त्रितयं नयनानाम् ।
अकृत च कापि सकज्जलरेखं जगुरथ मङ्गलमुच्चतरं ताः ।।२०।।

किसी भूतिनी ने काली मिट्टी के भस्म से शङ्कर की तीनों आँखों में काजल का चिह्न बना दिया और वे सब उच्च स्वर से मङ्गलगीत गाने लगीं ।।२०।।

करचरणेषु भुजङ्गवरैः स प्रततमणिद्युतिदीपितदिग्भिः ।
परिहितवान् कटकानि विधाय स्वयमथ मञ्जु कटौ कटिसूत्रम् ।।२१।।

शङ्कर जी ने अपने हाथों और पैरों में मणियों की कान्ति से उज्ज्वल करने वाले साँपों के बाला बना कर पहन लिया और सुन्दर कमर में उन्होंने मेखला बाँध ली ॥२१॥

उपरितनोरजिनञ्च गजस्य हृदयतटे ग्रथितं भुजगेन ।
तदनु कटौ कटिसूत्रसुनद्धं परिहितवानथचित्रकचर्म ॥२२॥

छाती पर उन्होंने हाथी के चर्म को सर्पसूत्र से बाँध लिया और कमर में भी उन्होंने व्याघ्रचर्म को वैसा ही सूत्र से बाँध लिया ॥२२॥

वलयितकुण्डलिमण्डितमौलिं ग्रथिततमं परितस्ततसर्पैः ।
शिरसि निधाय करे निजशूलं डमरूमथो समसज्जत शम्भुः ॥२३॥

चारों ओर फैले हुए साँपों से गुथे हुए जटा को सिर पर बाँध कर, त्रिशूल और डमरू को हाथों में ले कर वह सुसज्जित हो गये ॥२३॥

गुरुककुदं वितताायतकायं धवलतरं सुसमुन्नतशृङ्गम् ।
अतिशयलम्बित सुन्दरसास्नं वृषमधिरुह्य चचाल गिरीशः ॥२४॥

शङ्कर जी उस बैल पर सवार हो कर चल दिये जिसका ककुद (मौर) बड़ा, शरीर लम्बा एवं विस्तृत, रंग उजाला, सींग बहुत बड़ा-बड़ा तथा सास्ना (गले के नीचे का मांस) लम्बा एवं सुन्दर था ।।२४।

तदनु तदीयगणाः परितस्तं विविधवपुर्वसनाभरणास्ते ।
परिरुरुधुः कृतनर्तनगाना बहुविधवाद्यविवादनिमग्नाः ॥२५॥

उसके बाद नाना प्रकार के वेश-भूषा धारण कर उनके गणों ने नाच-गान करते हुए एवं अनेक प्रकार के वाद्य बजाते हुए उन्हें चारों ओर से घेर लिया ।२५।

प्रसृतमुखेषु ललद्गुरुजिह्वाः प्रविततनेत्रसरद्दहनाश्च ।
विकटरदाः कृतकौतुकनृत्या मृडमनुजग्मुरनेक पिशाचाः ॥२६॥

शङ्करजी के अनुसरण करनेवाले भूत-पिशाचादि के फैले हुए मुख से लम्बी जीभें तथा उनकी बड़ी-बड़ी आँखों से आग की लपटें निकल रही थीं। उनके दाँत अत्यन्त भयंकर थे और वे कौतुक से नाच रहे थे ॥२६॥

अधिकविशाल शिरोजठरास्ते लघुभुजपादमुखाः कृशदेहाः ।
पदधृतकिङ्किणिकाः शिवसङ्गे मुदिततमा ननृतुश्च जगुश्च ॥२७॥

उनके सिर और पेट अत्यन्त लम्बे तथा बाँह और पैर अत्यन्त छोटे थे। उनका शरीर दुबला था, उनके पैरों में पायल थे और वे शिव के साथ आनन्दित होकर नृत्य करते हुए गीत गाते थे ॥२७॥

बहुकरमुण्डितमस्तकपादा अवयवहीनतरा अपि केचित् ।
शितिकचपूर्णविशालशरीरा धवलतरास्थिमयावयवाश्च ॥२८॥

उनमें कोई बहुत हाथ-पैर वाले, कोई मुड़े हुए सिर वाले, कोई बिना अवयव के, कोई काले बालों से भरे हुए शरीर वाले तथा कोई हड्डी-से उजले रंग के थे ।२८

गजमृगसूकरचित्रकचर्मधृतवसनाः कृतमुण्डविभूषाः ।
विविधलतावसना अपि केचित् परिहितदिग्वसना बहुरूपाः ।।२९।।

कुछ लोग हाथी, हरिण, सूअर और बाघ के चमड़ा पहने हुए, कुछ लोग मुण्डमाल धारण किये हुए, कुछ लोग नंगे तथा कुछ लोग लता का वस्त्र धारण किए हुए थे ।२९

स्वनयति कोऽपि कपालयुगेन डमरुरवं कुरुतेऽपि च कश्चित् ।
विविधविषाणमथो बहुचर्म पटहचयं बहु वादयते स्म ।।३०।।

कोई खोपड़ियों को पीट कर बजा रहा था, कोई डमरू बजा रहा था, कोई सींघा बजा रहा था और कोई चमड़े का तासा बजा रहा था ।।३०।।

निजमुदरं जघनञ्च कपोलं करयुगलं चरणस्थलमन्यः ।
इति बहु वाद्यविवादनलीनास्तरलतमाः परितस्तमुपेताः ।।३१।।

शङ्कर के चारों ओर घरे हुए लोगों में से कोई पेट बजा रहा था, कोई जांघ बजा रहा था तथा कोई गाल, कोई तालियाँ और कोई चूतड़ बजा रहा था । इस प्रकार वे लोग नाना प्रकार से बाजा बजाने में लगे थे ।।३१।

निजमवलोक्य गणं पशुनाथो नटनपरायणमुत्सुकचित्तम् ।
स्वयमपि नर्तितुमुत्सुकचेता अवतरितुं वृषभात्स इयेष ।।३२।।

इस प्रकार अपने गणों को बाजा बजाते हुए देख स्वयं भी नाचने के लिए उत्सुक हो शङ्करजी ने बैल से नीचे उतरने की इच्छा की ।।३२।।

विबुधवरा जगदुस्तमवेक्ष्य चरितमलौकिकमार्य विगर्ह्यम् ।
वयमपि तेन सहैव चलेम नटमनुसरति यथा शिशुसङ्घः ।।३३।।

शङ्करजी को देख कर देवता लोग कहने लगे कि इनका चरित्र शिष्टाचार के विरुद्ध एवं अलौकिक है। जिस प्रकार नट का अनुसरण बच्चे करते हैं उसी प्रकार हम लोग भी उनके साथ चल रहे हैं ।।३३।।

भवतु यदेव किमद्य विधेयं कथमपि मर्दलकं निजकण्ठे ।
पशुपतिरेष दधातु सुरेशा इतिपरिचिन्त्य ययुः सह तेन ।।३४।।

जो भी हो, अब हमें करना क्या है ? किसी प्रकार शिव के गले में ढोल पड़े (शिव का विवाह हो जाय)---यह सोच कर, सभी उनके साथ चलने लगे ।।३४।।

हिमगिरिरम्यतटे शिवसङ्घः समुपजगाम धृताद्भुतवेषः ।
गिरिरपि दिव्यवपुर्मिलनार्थं सगण उपागमदाशु च तत्र ।।३५।।

अद्भुत वेशधारी शिव के गण हिमालय के सुन्दर तट पर पहुँच गये। हिमालय भी अपने परिजनों के साथ वर-मिलन (उनके स्वागत) के लिए वहाँ आ पहुंचे ।३५

धृतमणिदीपशिखा गिरिसङ्घे मृदुरववेणुमृदङ्गधराश्च ।
ततमुखवह्निप्रभाः खरनादा बहुविधवाद्यपरा अपरत्र ।।३६।।

हिमालय के गणों में लोग मणिमय दीप लिये हुए तथा कोमल नाद करने वाले वंशी एवं मृदङ्ग धारण किये हुए थे। दूसरी ओर (शङ्कर के गणों में) ऐसे थे जिनके मुख से आग की लपट निकल रही थी और उनके बाजे भयङ्कर नाद कर रहे थे ।।३६।।

यदि गिरय: कठिनैर्निजदेहै: कमपि च मेलयितु शिवसङ्घे ।
दृढतरमुत्सुकिता: प्रभवेयुर्वदत भवेत्खलु कास्य दशात्र ।।३७।।

हिमालय के लोग अत्यन्त उत्सुक हो कर भी शिव के लोगो को यदि अपनी कठिन देह में मिलाने में समर्थ नहीं हो सके तो बतलाएँ उस (मिलन) की दशा कैसी रही होगी ? ।।३७।।

तदपि कथञ्चिदुमौ मिलितौ सद्गिरिसदनं विविधोज्वलरत्नम् ।
धृतनवपल्लव तोरणमालं ययतुरथाहितकुम्भयुगं तत् ।।३८।।

तब भी किसी-किसी तरह वे दोनों गण मिले और नाना रत्नों से सुशोभित, नये पल्लवों से सुसज्जित, तोरणयुक्त, जलपूर्ण दो कलशों से सुशोभित हिमालय के घर सब गये ।।३८।।

वरमवलोकयितु वरवामा: समुपययु: सदनं गिरिपत्न्या: ।
हरिमवलोक्य वरं परिजज्ञुर्हरमपि नर्तकमेव विचित्रम् ।।३९।।

सुन्दर स्त्रियाँ मेना (हिमालय की पत्नी) के घर वर देखने आयीं। विष्णु को देख कर उन लोगों ने उन्हें ही वर और शङ्कर को एक विचित्र नर्त्तक समझा ।३९।

तदनु निराजनया प्रतिहारे जरठवृष: स्थितवान् समुपेत्य ।
तदधिगतश्च निरीक्ष्य वरं ताश्चकिततमा अवलोक्य बभूवु: ।।४०।।

बूढ़े बैल पर सवार शङ्करजी को जब आरती के साथ दरवाजे पर लाया गया तब वहाँ पर वर को देख कर सब स्त्रियाँ चकित हो गयीं ।।४०।।

किमयमुपागत आलि ! परेत: स्विदथ वनोद्भव एष च कश्चित् ।
अथ दनुजोऽद्भुतरूप इहायादिति कथयन्ति परस्परमेता: ।।४१।।

वे आपस में इस प्रकार बातें करने लगीं— "ऐ सखी ! क्या यहाँ कोई प्रेत अथवा जंगली मनुष्य अथवा अद्भुत रूप धारी दानव आ गया है ?" ? ।।४१।।

उपगत एष नट: सखि ! कश्चिन्नहि नटराज इति प्रथितोऽयम् ।
द्रुततरमेव नटीह विमृग्या भवति यत: प्रणयो निजवर्गे ।।४२।।

"हे सखी ! यह कोई नट (नर्तक) आ गया है। नहीं, यह नटराज नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए जल्दी ही एक नटी को खोज कर लाना चाहिए, क्योंकि नट का प्रेम नटी पर ही होता है ।।४२।।

इह गिरिराजसुतां परिणेतु समुपगतं सखि ! पश्य गिरीशम् ।
पशुपतिरेष किमत्र विचित्रम् कथयसि इत्यबले ! स्मितपूर्वम् ।।४३।।

एक दूसरी स्त्री हँस कर कहती है—"हे सखी ! देखो, पार्वती से विवाह करने के लिए गिरीश आ गये हैं। हे अबले ! यह पशुपति हैं। इनके विषय में विचित्र बातें क्यों कह रही हो ?" ॥४३॥

सखि वहुरूप इति प्रथितोऽयं विचरति लोकमुदे स्वगणेन ।
नहि वहुरूपवतीह तु काचित्परिणययोग्यतमास्य कथं स्यात् ॥४४॥

"हे सखी ! यह वहुरूपिया प्रसिद्ध है तथा लोगों को आनन्द देने के लिए अपने गणों के साथ सदा विचरण करता है। किन्तु यहाँ पर बहुरूपवती तो कोई है नहीं। तब इससे विवाह के योग्य कोई कैसे होगी ?" ॥४४॥ जटिदहा

सखि ! मदनं परिदह्य पुरायं परिणयनार्थमिहागतवान् किम् ।
य इह करोत्यविचारितकर्म सतु परिहासपदं प्रतियाति ॥४५॥

"हे सखी ! पहले ही इन्होंने कामदेव को जला दिया है। अब यह विवाह के लिए यहाँ क्यों आये हैं ? जो संसार में बिना विचार किये काम करता है, वह उपहासास्पद होता है।"

वरमवलोक्य ततो गिरिभार्याऽवरमवगम्य भयङ्करवेषम् ।
स्फुरदधरेण जगाद रुषेत्थं झटिति निराक्रियतां सदनान्मे ॥४६॥

तब भयंकर वेशधारी वर को देख कर क्रोध से अपने होठों को कँपाती हुई हिमालय की पत्नी बोली—"शीघ्र ही हमारे घर से इसे निकाल दो ॥४६॥

मम दुहितातिकुसङ्गवशेन विकृतमति विकृतं पतिमैषीत् ।
मितीह ननु सरलत्वमतीह शिशुत्वे भवति, ततो न दृढं कृतमत्र ॥४७॥

"कुसङ्गवश मेरी पुत्री विकृत बुद्धिवाली हो कर विकृत पति चाहती है। इस बचपन में तो सरलता होती ही है। इसीलिए मैंने उसे दबाने का कोई कठिन प्रयास नहीं किया ॥४७॥

ग्रहिलतमात्मकृते कुविमर्शे तदभिमतं न तु पूरयितव्यम् ।
अकृतकरग्रहणा वरमस्तु किमिव सुखं लभतां जरठेन ॥४८॥

"अपने कुविचार के कारण यह बहुत ही हठी है। इसकी इच्छा पूर्ण करने योग्य नहीं है। यह अविवाहिता भले ही रह जाय किन्तु इस बूढ़े पति से कौन-सा सुख प्राप्त करेगी ?" ॥४८॥

जननि ! वरो ध्रुवमेव वरोऽयं नहिकलहावसरः शुभकार्ये ।
यदिह विधानमरं हि विधेयमिति गिरिराजसुतोनिजगाद ॥४९॥

हिमालय के पुत्र ने कहा—"माँ ! यही वर विवाह-योग्य है। इस शुभ कार्य में कलह का समय नहीं है। जो विधि-विधान है उसका अनुष्ठान जल्दी होना चाहिए" ॥४९॥

तदनु गिरीशप्रिया कृतकोपा प्रशमितकोपभरा सुतवाक्यैः ।
विहितवतीसमयोचितकार्यमुपगतमाशुविवाह सुलग्नम् ॥५०॥

पुत्र की बात से कोप को शान्त कर विवाह के सुन्दर (शुभ) लग्न उपस्थित होने के कारण हिमालय की पत्नी कुपित मन से तत्कालीन समयोचित कार्य करने लगी ॥५०॥

उचिततमान् बृहतो गिरिगेहान् सकलजनान् सवरानधिवास्य ।
विमलजलैश्चरणानथतेषां प्रणततमाः पुरुषाः प्रममार्जुः ॥५१॥

पर्वत पर रहने वाले बड़े एवं उपयुक्त लोगों को वर के साथ अधिवासित कर विनीत लोगों ने उनके चरणों को शुद्ध जल से प्रक्षालित किया ॥५१॥

अतिमधुरा विविधा रसवन्तो गिरिप्रहिता अशनीयपदार्थाः ।
सुरनरभोज्यतमा अपि नासन् वरगणमानसमोदकरास्तु ॥५२॥

मनुष्य एवं देवताओं के भी अत्यन्त प्रिय नाना प्रकार के उत्तम, स्वादिष्ट, मधुर खाद्य-वस्तुएँ हिमालय के द्वारा भेजी गयीं, किन्तु शिवगण के लिए वे वस्तुएँ रुचिकर नहीं हुईं ॥५२॥

गुरुनिजनासिकयाऽथ विजिघ्रन् मधुरमखाद्यमिवास्यति कश्चित् ।
प्रसृतदृशाप्यवलोकयमानः क्षिपति च कन्दुकवद्गुरु लड्डुम् ॥५३॥

किसी ने अपनी बड़ी नाक से सूँघ कर मधुर खाद्य को अखाद्य की तरह दूर फेंक दिया । दूसरा अपनी बड़ी आँखों से चारों ओर देख कर बड़े लड्डू को गेन्द की तरह फेंकने लगा ॥५३॥

गुरुतरकुण्डलिकां निजकर्णे सुरभिसितारसिकां परिधत्ते
वपुषि विलेपयते दधिलेपं विविधफलैः कुरुतेऽपिच केलिम् ॥५४॥

बड़ी-बड़ी सुगन्धित एवं मधुर जलेबियों को किसी ने अपने कानों में लगा लिया तथा किसी दूसरे ने दही को अपने शरीर में लेप लिया । कोई अन्य फलों से गेन्द की तरह खेलने लगा ॥५४॥

न हि विजया न तमालदलानि न हि कनकस्य च मूलफलानि ।
इह न हि धूमजटा अहिफेनो गृहमिदमस्ति महाकृपणस्य ॥५५॥

"यहाँ भांग नहीं है ।" "खैनी के पत्ते नहीं हैं ।" "धतूरे के मूल एवं फल भी नहीं हैं ।" "गांजा नहीं है ।" "अफीम भी नहीं है ।" "यह घर अत्यन्त ही कृपण व्यक्ति का है ।" ॥५५॥

इति कथयन्ति गणा वृषकेतो गिरिसदने कलहोऽपि च कश्चित् ।
किमयमसभ्य समाज इहायान्नहि वसनाभरणं दुहितुर्नः ॥५६॥

शङ्कर जी के गण सब ऐसा कहने लगे । हिमालय के घर में विवाद भी हो गया । "कैसा असभ्य समाज यहाँ आ गया है, जिसने हमारी लड़की के लिए वस्त्र और आभूषण भी नहीं लाया है" ॥५६॥

उभयदलं परिशम्य कथञ्चिज्झटिति बिवाहविधिश्चविधातुम् ।
गिरिवरचालितविप्रवरेण सगणवरं विधिराह्वयदाशु ॥५७॥

दोनों पक्षों को शीघ्र ही कुछ शान्त कर हिमालय से नियुक्त ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मा ने वर को उनके गणों के साथ विवाह के लिए बुला लिया ।।५७।।

ययुरथ रम्यतमे गिरिगेहे बहुविधरत्नमये सुबिताने ।
मणिमयकुम्भसमन्वित वेदावुपविविशुश्च वधूवरपक्ष्याः ।।५८।।

कन्या और वर पक्ष के लोग हिमालय के सुन्दर घर में गये और वहाँ अनेक रत्नमय चाँदनीयुक्त मणिमय कलशयुक्त प्रशस्त मण्डप में बैठे ।।५८।।

गणपतिमर्चयितुं धृतदूर्वं वरमवलोक्य जगाद च काचित् ।
परिणयवस्तु कियत्प्रियमस्ति सुतमपि पूजयते जटिलोऽयम् ।।५९।।

गणपति-पूजन के लिए हाथ में दूब लिये हुए शङ्कर जी को देख कर किसी स्त्री ने कहा—"देखो, विवाह कितनी प्रिय वस्तु है ! इसके लिए यह बूढ़ा व्यक्ति भी अपने पुत्र की पूजा कर रहा है" ।।५९।।

उपविधिमाशु समाप्य कथञ्चिद्वितरणकालमवाप्य सुतायाः ।
वरजनकाद्यभिधामभिधातुं विधिमभिधाय गिरिः स्मितवान् सः ।।६०।।

विवाह के अङ्गकार्यों को सम्पन्न कर कन्यादान का समय पा कर वर के पिता आदि का नाम कहने के लिए ब्रह्मा से पूछ कर हिमालय मुस्कुराने लगे ।६०।

स्वयमयमस्ति सुतो जनको वा जनकपिता प्रपितामह एव ।
किमिति विमर्श इहेशमहेशे गिरिवर ! देहि सुतां सकलाय ।।६१।।

(इस पर ब्रह्मा ने कहा—) "यह स्वयं ही पुत्र, पिता, पितामह और प्रपितामह हैं । इस महेश के विषय में यह सब विचार करना क्या है ? हे हिमालय ! जल्दी से चन्द्रकलायुक्त शिव को अपनी कन्या अर्पित कर दें ।।६१।।

मुरजरवे श्रुतिपाठविमिश्रे प्रसरति, केकिकुले कृतशब्दे ।
निजवलयादि विलेशयसङ्घे चलति शिवस्त्वचमाशु दधार ।।६२।।

वेदपाठ से युक्त जब मुरज (मृदङ्ग) बाजा बजने लगा और (इसे मेघ-गर्जन समझ कर) मयूर गुञ्जन करने लगे तब शङ्करजी के हाथ और कमर में लिपटे सर्प (मयूर की ध्वनि सुन उसके डर से) सरकने लगे । शीघ्र ही शङ्करजी ने अपनी कमर के व्याघ्रचर्म को अपने हाथ से पकड़ लिया ।।६२।।

गिरिशकराज्जनकार्पितपाणिं वलयभुजङ्गमफूत्कृतिभीता ।
गिरितनयानु चकर्ष सकम्पा विततशयः शिव आस्त समुत्कः ।।६३।।

शङ्करजी के हाथ के वलयरूपी साँप के फुत्कार से डर कर काँपती हुई पार्वती ने हिमालय द्वारा शङ्कर के हाथ पर रखे गये अपने हाथ को उनके हाथ पर से खींच लिया और शङ्कर जी उत्कण्ठित हो कर अपना हाथ फैलाये रह गये ।।६३ ।।

इति शिवविवाहः ।

दक्षयज्ञविध्वंसः

निशम्य दक्षकन्यकापितुर्गृहे शुभंक्रतुम् ।
जगाद शङ्करं मुदा पतिं प्रयातुमुत्सुका ॥१॥

पिता के घर में होनेवाला शुभ यज्ञ सुन कर वहाँ जाने के लिए उत्कण्ठित दक्षपुत्री (सती) ने अपने पति (श्री शङ्करजी) से सानन्द कहा—।१।

पितुर्गृहे महाक्रतुर्भवन्निशम्यते विभो !
त्वया मया सहैव किन्न तत्र गम्यतेऽधुना ॥२॥

"हे प्रभो ! पिता के घर में महायज्ञ होता हुआ सुना जाता है । इस समय मेरे साथ आप वहाँ क्यों नहीं जाते हैं ?" ।२।

प्रियागिरं गिरीश्वरो निशम्य तामुवाच यत् ।
निमन्त्रणं विना प्रिये ! कथं प्रयाणमस्तु नौ ॥३॥

शङ्करजी ने पत्नी के वचन सुन कर कहा—"हे प्रिये ! निमन्त्रण के बिना हम दोनों का वहाँ जाना कैसे हो सकता है ?" ।३।

निमन्त्रणं विना विभो गुरोर्गृहं व्रजेत्सदा ।
इति श्रुतेरनुज्ञयावयोर्गतिर्भवेन्मुदा ॥४॥

"हे प्रभो ! निमन्त्रण के बिना बड़े लोगों के घर सदा जाना चाहिए" —वेद की इस आज्ञा से हम दोनों का वहाँ जाना उचित ही है ।४।

व्रजन्ति मेऽनुजास्तथाऽग्रजाविमान माश्रिताः ।
निजैर्वरैः प्रियैः सहेति किं न दृश्यतेऽम्बरे ॥५॥

"विमान पर बैठे हुए मेरे बड़े तथा छोटे भाई अपने प्रिय परिवारों के साथ जाते हैं । आकाश में आप इन्हें क्यों नहीं देखते ?" ।५।

तदीययानसंकुलं चमत्कृतं घनारवम् ।
विलोक्यते तताम्बरं न किं क्षणं त्वमीक्षसे ॥६॥

"उन यान से व्याप्त घनी आवाज से युक्त चमत्कृत आकाश को आप इस समय क्यों नहीं देखते ?" ।६।

द्रुतं हि पश्य पश्य मेऽनुगैव रोहिणीन्दुना ।
निजप्रियेण सार्धमम्बरे प्रयाति वेगतः ॥७॥

"शीघ्र ही देखिए, देखिए । मेरी दासी रोहिणी अपने प्रिय पति चन्द्रमा के साथ आकाश में वेग से जा रही है" ।७।

पुलोमजापि याति वासवेन सार्धमद्य सा ।
सरोजवासिनी समं प्रयाति केशवेन च ॥८॥

'आज वह पुलोमपुत्री शची इन्द्र के साथ और कमल-निवासिनी लक्ष्मी भी विष्णु के साथ जा रही हैं।" ।८।

सुरस्त्रियः समाः सहात्मकामुकैर्व्रजन्ति यत् ।
प्रसन्नमानसा नु मां विलोक्य ता हसन्त्यलम् ॥९॥

"अपने पति के साथ सभी देव-स्त्रियाँ जो जा रही हैं, वे प्रसन्नचित्त हो मुझे देख कर हँस रही हैं।" ।९।

भवान्न चेद्गमिष्यति द्रुतं तु मां समादिश ।
क्षणं न चित्तमत्रमेऽवतिष्ठति प्रभोऽधुना ॥१०॥

"हे प्रभो ! आप यदि नहीं जायेंगे तो मुझे आज्ञा दीजिए। इस समय यहाँ क्षण भर भी मेरा मन स्थिर नहीं है।" ।१०।

तामुवाच है

समुत्सुकां प्रियां चलद्विमानवद्धवीक्षणाम् ।
विलोक्य शङ्करः क्षणं विचिन्त्य तामवोचत ॥११॥

शङ्कर भगवान ने चलते हुए विमानों को देखती हुई उत्कण्ठित पत्नी से क्षण भर सोच कर कहा—।११।

वभूव मत्प्रियेऽधुना त्वदीयमानसे नु किम् ?
क्षणं न मां विनां स्थिता विहाय किं गमिष्यसि ? ॥१२॥

"हे प्रिये ! इस समय तुम्हारे मन में क्या हो गया है ? क्षण भर भी मेरे विना तुम नहीं रहती थी। मुझे छोड़ कर तुम कैसे जाओगी ?" ।१२।

यदि ध्रुवं प्रयास्यसि विनैव मां तु केवला ।
त्वया विनाऽत्रका दशा भविष्यति प्रिये ! मम ॥१३॥

"यदि मेरे बिना ही अकेली तुम निश्चित जाओगी, तो हे प्रिये ! तुम्हारे बिना यहाँ मेरी कैसी दशा होगी ?" ।१३।

विहाय तात गेहगं ममत्वमद्य चिन्तय ।
शिवं विना शिवं शिवे ! कथं भविष्यति क्वचित् ॥१४॥

"आज तुम पिता के घर की ममता छोड़ कर सोचो। हे शिवे ! शिव के बिना कहीं भी कैसे कल्याण हो सकता ?" ।१४।

शिवोदितं निशम्य सान्त्वनासमन्वितं शिवा ।
विचारमात्मनो विधातुमन्यथा न साऽशकत् ॥१५॥

शिव के सान्त्वनायुक्त वचन सुन कर भी सती अपना विचार नहीं उलट (बदल) सकीं।१५।

विचार्य शूलधृक् प्रियाविचारमत्यलं दृढम् ।
अनर्थकारकं पुनर्जगाद खिन्नमानसः ॥१६॥

त्रिशूलधारी (शङ्कर) ने अत्यन्त दृढ़ भगवती के अनर्थकारक विचार को सोच खिन्न मन से पुनः कहा— ।१६।

प्रिये ! त्यजाग्रहं मुधा विवोध्यसेऽद्य वार्तया ।
विनाज्ञया न यास्यसि न दीयते मयापि सा ॥१७॥

"प्रिये ! व्यर्थ का हठ छोड़ो। अभी बात से समझा रहा हूँ। मेरी आज्ञा बिना नहीं जा सकती हो और वह (जाने की) आज्ञा मैं नहीं दे रहा हूँ" ।१७।

हरस्य चण्डिका गिरं निशम्य कर्कशामिमाम् ।
चलत्कुशेशयेक्षणा जगाद कम्पिताधरा ॥१८॥

महादेव जी की ऐसी कड़ी बात सुन कर चञ्चल कमल-नयनी एवं कम्पायमान अधरों वाली पार्वती (चण्डिका) बोलीं — ।१८।

तवास्ति शक्तिरीदृशी यदद्य मां निषेधयेः ।
जगन्मयैव शक्तिमन्न वेत्सिकि जगत्प्रभुः ॥१९॥

"आप की ऐसी शक्ति है जो आज मुझे रोक रहे हैं। हे जगत्प्रभो ! यह संसार मुझसे ही शक्तिमान् है। यह आप क्यों नहीं जानते ?" ।१९।

निगद्यकालिकादिका निजाकृतीर्दशाम्बिका ।
प्रदर्श्य विस्मितं शिवं जगाद सस्मिता शिवा ॥२०॥

कालिका आदि अपनी दस आकृतियों के बारे में कह कर तथा उन्हें दिखला कर आश्चर्यचकित शिव से मन्द मुस्कुराती हुई पार्वती बोलीं—।२०।

न विस्मयं कुरु प्रभो ! त्वमेव सर्वशक्तिमान् ।
विभेद आवयोर्न कश्चिदस्ति चन्द्रभूषण ! ॥२१॥

"हे प्रभो ! आप आश्चर्य नहीं करें। आप ही सर्व शक्तिमान् हैं। हे चन्द्रशेखर ! हम दोनों में कोई भेद नहीं है ।२१।

ममाधुना समीहितं कुरु प्रभो फलान्वितम् ।
प्रसीद तातसद्म गन्तुमाशु मानुशाधि भोः ॥२२॥

"हे प्रभो ! इस समय आप मेरा मनोरथ सफल बनावें। आप शीघ्र ही प्रसन्न हो जायें और पिता के घर जाने की मुझे आज्ञा दें।" ।२२।

निवर्तते न ते समीहितं प्रिये ! कथञ्चन ।
व्रजेष्टदेवता शुभं विधास्यति त्वदीयकम् ॥२३॥

"हे प्रिये ! यदि तुम्हारा विचार किसी प्रकार भी नहीं रुक रहा हो तो जाओ। इष्टदेवता तुम्हारा कल्याण करेंगे" ।२३।

पतिं प्रणम्य सा सती तदाज्ञयाहृतं द्रुतम् ।
वृषेन्द्रमारुरोह चाथ सञ्चचाल वेगतः ॥२४॥

वह सती पति को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से लाये गये बड़े साँढ़ पर शीघ्र सवार हो गयीं और वह (साँढ़) वेग से चला ।२४।

अवाप्य शम्भुशासनं भयङ्कराः शिवामनु ।
ययुर्जवेन मेघवत्स्वनन्त आशु तद्गणाः ॥२५॥

शिव जी के भयङ्कर गण उनकी आज्ञा प्राप्त कर मेघ की तरह गरजते हुए बड़े वेग से भगवती के साथ चले ।२५।

समाससाद तातसद्म तूर्णमेव सा सती ।
विलोक्य तां न कोऽपि शं तु पृष्टवानुदारधीः ॥२६॥

वह सती शीघ्र ही अपने पिता के घर पहुँच गयीं । किसी भी सहृदय व्यक्ति ने उन्हें देख कर उनका कुशल तक नहीं पूछा ।२६।

निजाग्रजां स्वयं समागतां विलोक्य दक्षजाः ।
व्यधुर्न सत्कृतिं तथाब्रुवँश्च न प्रियं वचः ॥२७॥

बिना बुलायी आयी हुई अपनी बड़ी बहन को देख कर उनकी बहनों ने उनका कोई सत्कार नहीं किया । साथ ही उनसे प्रिय वचन तक वे नहीं बोलीं ।२७।

स्वयं वृषेन्द्रतोऽवतीर्य मातृसद्म साऽविशत् ।
समालिलिङ्ग सा सुतां गलज्जलाकुलेक्षणा ॥२८॥

सती स्वयं महावृषभ से उतर कर माता के घर में गयीं । जलयुक्त एवं चंचल नेत्र वाली माता ने अपनी पुत्री को गले से लगा लिया ।२८।

प्रणम्यं मातरं सती जगाद विक्लवं वचः ।
कदा विरोधमाचरं निमन्त्रिताऽभवं न यत् ॥२९॥

माता को प्रणाम कर सती व्याकुल हो कर बोलीं—"मैंने कब आप से शत्रुता की कि मुझे निमन्त्रित नहीं किया गया ?" ।२९।

निशम्य दक्षभामिनी निजात्मजेरितं वचः ।
नमन्मुखेन्दुमण्डला स्रवद्विलोचना स्थिता ॥३०॥

अपनी पुत्री की बात सुन कर दक्ष पत्नी का मुखचन्द्र नीचा हो गया और अपनी आँखों से आँसू निकालती हुई वह खड़ी रहीं ।३०।

पयः शृतं सितान्वितं स्वपुत्रिकाकरेऽर्पितम् ।
अभुक्तिपपीलिकाशितं यतस्तया न भक्षितम् ॥३१॥

उन्होंने अपनी पुत्री के हाथ में मिश्री मिश्रित गरम दूध दिया जिसे चीटियों से युक्त होने के कारण सती ने नहीं पान किया ।३१।

ततोऽगमत्सती स्वयं ददर्श चाततं क्रतुम् ।
महेशभागवर्जितं नरामरैरलंकृतम् ॥३२॥
समर्चितद्विजेरितश्रुतिस्वनोपशब्दितम् ।
समागतामरेश्वरावलीविराजितं शुभम् ॥३३॥
स्रुवादियज्ञसाधनैः प्रसूनधूपदीपकैः ।
समच्छ्रितध्वजैर्विचित्रतोरणैरलंकृतम् ॥३४॥
सुपञ्चवेदिमण्डितं ज्वलद्धुताशभूषितम् ।
जनौघपूर्णप्राङ्गणं ध्वनत्सुवाद्यनादितम् ॥३५॥

तब सती ने मनुष्यों और देवों से अलंकृत, पूजित ब्राह्मणों द्वारा उच्चरित वेद के शब्दों से तथा आये हुए देव समूहों से युक्त, स्रुवा आदि यज्ञ के साधनों तथा फूल, धूप, दीप, लहराते हुए ध्वजों एवं रंग-बिरंग के तोरणों (वन्दनवारों) से अलंकृत, पाँच वेदियों से मण्डित, प्रज्वलित अग्नि से भूषित, जन-समूहों से पूर्ण, बजते हुए बाजाओं से सुशोभित उस फैले हुए यज्ञ को स्वयं देखा जिसमें महेशजी का भाग कहीं भी नहीं था।३२–३५।

पितागतां विलोक्य तां महेशसङ्गदूषिताम् ।
प्रकम्पिताधरो विनिःश्वसञ्जगाद तत्क्षणम् ॥३६॥

महेश की संगति से दूषित अपनी पुत्री को आयी हुई देख कर होंठ को कँपाते हुए तथा जोर से श्वास लेते हुए सती के पिता उसी क्षण बोले—।३६।

निमन्त्रणं विनैव किं समागतेह मद्गृहे । यः
समुज्वलो ममान्वयो विदूषितोऽनयाऽद्यया ॥३७॥

"बिना निमन्त्रण के मेरे घर क्यों आयी ? इस पार्वती ने मेरे वंश को दूषित कर दिया" ।३७।

प्रमृज्य नेत्रजं जलं शिवा जगाद गद्गदम् ।
प्रयातुमात्मनो गृहं निमन्त्रणं प्रतीक्ष्यते ? ॥३८॥

नेत्र के आँसुओं को पोंछ कर सती गद्-गद् स्वर में बोलीं—"क्या अपने घर जाने में भी निमन्त्रण की प्रतीक्षा की जाती है ?" ।३८।

नृशंस
नृशंश तत्पिताऽवदत्किमुच्यतेऽनभिज्ञिके ! ।
इदं समुन्नतं मनोरमं गृहं त्वदीयकम् ? ॥३९॥

उनके दुष्ट पिता बोले—"अरे मूर्खे ! यह क्या कहती हो ? इतना सुन्दर एवं उन्नत घर क्या तुम्हारा है ? ।३९।

भ्रमन्ति यत्र भीषणाः पिशाचराक्षसोरगाः ।
शिवारुतं शिवाश्रयं श्मशानमस्ति ते गृहम् ॥४०॥

"तुम्हारा घर तो श्मशान है जहाँ पर भयानक पिशाच, राक्षस और साँप वास करते हैं तथा जहाँ पर सियार रहते हैं और रोते हैं" ।४०।

ततोऽवदत्सती यथा तवास्म्यहं तथा मम ।
त्वमप्यतोऽस्ति मद्गृहं कथं न तत्त्वदीयकम् ॥४१॥

तब सती बोलीं—"जिस तरह मैं आप की हूँ, उसी तरह आप भी मेरे हैं। तो आप का यह घर मेरा घर क्यों नहीं है ?" ।४१।

कलङ्किनि ! त्वमीदृशं कथं ब्रवीषि मे पुरः ।
श्मशानवासिसङ्गतासि दूषिताङ्गधारिणी ॥४२॥

"हे कलंकिनी ! मेरे सामने तुम ऐसा क्यों बोलती हो ? श्मशानवासी की संगति से तुम्हारे सारे अङ्ग दूषित हो गये हैं ।४२।

अभद्रवेषधारकोऽपभद्रकर्मकारकः ।
अभद्रसङ्गचारकः पतिस्तवास्त्यभद्रकः ॥४३॥

'तुम्हारा पति अभद्र वेश-भूषा धारण करता हुआ, अनुचित काम करता हुआ, अनुचित लोगों के साथ चलने वाला तथा अकल्याणकारी है" ।४३।

श्रुतप्रियातिगर्हणारुणस्फुरद्विलोचना ।
प्रभातचण्डभानुदीप्तिदेहभाऽभवच्छिवा ॥४४॥

अपने प्रिय (भगवान शङ्कर जी) की निन्दा सुन कर शिवा की आँखें लाल एवं चञ्चल तथा देह प्रभातकालीन सूर्य के समान लाल हो गयीं ।४४।

शिवोऽस्ति शङ्करो महेश्वरोऽपि चन्द्रभूषणः ।
स साशुतोष एव मे पतिः पितर्न संशयः ॥४५॥

'हे पिता ! मेरे पति शिव हैं जो निस्सन्देह कल्याणकारी, महेश्वर (सबसे बड़े ईश्वर), चन्द्रभूषण एवं शीघ्र ही प्रसन्न होने वाले हैं" ।४५।

त्वया यथा विलोक्यते त्वदर्थमस्तु तादृशः ।
जनैः स्वभावनानुरूपमेव लभ्यते फलम् ॥४६॥

"आप उन्हें जैसा देखते हैं, वे आप के लिए वैसा ही हों। लोग अपनी धारणा के अनुकूल ही फल पाते हैं ।४६।

त्वदङ्गसम्भवादिदं विदूषितं कलेवरम् ।
त्यजाम्यहं पुरस्तदक्षिगोचरं विधीयताम् ॥४७॥

"आप के अंग से उत्पन्न होने के कारण मेरा यह शरीर दूषित है। आप के सामने ही मैं इसका (इस शरीर का) त्याग कर रही हूँ—यह आप देखें ।४७।

निगद्यशम्भुवल्लभा विधाय पङ्कजासनम् ।
पतिं निधाय मानसे जहौ शरीरमात्मनः ॥४८॥

यह कह कर शङ्कर जी की प्रियतमा सती ने पद्मासन लगा कर मन में पति का ध्यान करती हुई अपना शरीर त्याग दिया ।४८।

गणास्तदीयनाशमक्षिगोचरं विधाय ते ।
नितान्ततप्तमानसा व्यधुर्विचित्रचेष्टितम् ॥४९

सती का नाश देख अत्यन्त सन्तप्त हो कर शिव जी के गण विचित्र-विचित्र चेष्टाएँ करने लगे ।४९।

घनं प्रणर्द्य चाक्षिणी वितत्य लोचने भृशम् ।
दृढं नियम्य मुष्टिकां प्रहर्तुमेवमुद्यताः ॥५०॥

शिवजी के गण जोर से गरज कर, आँखों को अत्यन्त फैला कर तथा मुट्ठियों को कस कर मारने को तैयार हो गये ।५०।

श्रुती विलुठ्य कस्यचित्तदीयमूलदेशयोः ।
अताडयत्तलेन तेषु कोऽपि कोपवेपितः ॥५१॥

क्रोध से काँपता हुआ किसी ने किसी का कान उखाड़ लिया और किसी ने किसी के कान की जड़ में थप्पड़ मारा ।५१।

स्वमुष्टिकाप्रहारतश्च कस्यचिद्विरक्षिषोः ।
द्विजानपातयच्च कस्यचिच्छिखां व्यपाटयत् ॥५२॥

यज्ञीय ब्राह्मणों की रक्षा करना चाहते हुए लोगों को मुट्ठियों से पीट कर जमीन पर गिरा दिया और किसी की चोटी उखाड़ ली ।५२।

खरैर्नखैस्तु कस्यचिद्विलोचने व्यपाटयत् ।
निजैर्द्विजैश्च नासिकामखण्डयच्च कस्यचित् ॥५३॥

अपने तीखे नखों से किसी की आँखें निकाल लीं और अपने दाँतों से किसी की नाक काट ली ।५३।

उपद्रवं प्रकुर्वतो विलोक्य शाम्भवान् गणान् ।
न्यवारयद्भृगुर्जलेन मन्त्रितेन सर्वतः ॥५४॥

शिवजी के गणों को इस प्रकार उपद्रव करते हुए देख कर भृगु ने अभिमन्त्रित जल को छींट कर सब को भगाया ।५४।

तदीयमन्त्रशक्तितोऽथ तत्रगन्तुमक्षमाः ।
द्रुतं ययुः शिवान्तिकं न्यवेदयंश्च सर्वतः ॥५५॥

भृगु की मन्त्र-शक्ति के कारण वहाँ जाने में असमर्थ शिवगण ने शङ्करजी के पास जा कर उनसे सब कुछ कहा ।५५।

प्रियाविनाशमीश्वरो निशम्य ताम्रलोचनः ।
त्रिशूलमाददत्ततश्चचाल चण्डवेगतः ॥५६॥

पत्नी का विनाश सुन कर लाल आँखों वाले शिवजी त्रिशूल ले कर प्रचण्ड वेग से चले ।५६।

प्रकम्पयन् धराञ्च विक्षिपन् घनान् महीरुहान् ।
विपाटयन् दिशः ससाद दक्षयज्ञमण्डपम् ॥५७॥

पृथ्वी को प्रकम्पित करते, मेघों को तितर-बितर करते एवं वृक्षों को उखाड़ते तथा दिशाओं को चीरते हुए वह दक्ष के यज्ञमण्डप में पहुँच गये ।५७।

मृगाकृतिं विधाय प्रद्रुतस्य तत्कृतोद्रुतम् ।
जहार मस्तकं निजत्रिशूलतो महेश्वरः ॥५८॥

हरिण (मृग) का रूप बना कर उस यज्ञ से भागते हुए दक्ष के सिर को शङ्कर जी ने अपने त्रिशूल से काट लिया ।५८।

अवक्रयत्प्रियापितुः प्रजापतेर्मुखं ततः ।
व्यकर्षदस्य जिह्विकामपातयच्चभूतले ॥५९॥

इसके बाद अपनी पत्नी (सती) के पिता के मुख को टेंढ़ा कर, उनकी जीभ को खींच कर उन्होंने पृथ्वी पर पटक दिया ।५९।

अताडयत्ततो दृढं कपर्दतो महीतलम् ।
अभूच्च तेन वज्रवद्घनस्वनो धरातले ॥६०॥

तब (उन्होंने) अपनी जटाजूट से पृथ्वी को जोर से पीटा । फलस्वरूप पृथ्वी के ऊपर वज्रपात-सा शब्द हुआ ।६०।

पिबन्निवाक्षिभिर्निजै र्विलोहितैस्तु रोदसीम् ।
घनध्वनिः समुद्यतोऽथ वीरभद्रनामतः ॥६१॥

(क्रोध के कारण) अपनी लाल आँखों से पृथ्वी एवं आकाश को पीता हुआ तथा बादल की तरह गरजता हुआ वीरभद्र नामक व्यक्ति प्रकट हुआ ।६१।

प्रचण्डदण्डताडनैः खरैश्च खड्गपातनैः ।
दृढस्वमुष्टिभिर्मुहुश्चकार संकुलं मखम् ॥६२॥

उन्होंने (वीरभद्र ने) भयानक दण्ड के प्रहार से, तीक्ष्ण तलवार की मार से तथा अपनी मुट्ठी की मार से भी उस यज्ञ को भयानक बना दिया ।६२।

कचं भृगोरलुञ्चदानतस्य कस्यचित्तनुम् ।
मुनेरपातयच्च कस्यचिद्भुजं व्यपाटयत् ॥६३॥

(उन्होंने) भृगु की दाढ़ी उखाड़ ली, किसी झुके हुए मुनि के शरीर को पटक दिया और किसी की बाँह उखाड़ ली ।६३।

शिरोधरामघूर्णयद्द्वयचालयत्पदद्वयम् ।
अकर्षदन्त्रकाणि चौप्यतोडयत्कटिस्थलीम् ॥६४॥

(उन्होंने) किसी की गर्दन घुमा (मरोड़) दी, किसी के दोनों पैर उखाड़ लिये, किसी की अँतड़ी खींच ली और किसी की कमर तोड़ दी ।६४।

अकुट्टयच्चकञ्चनाप्यपुट्टयत्तथापरम् ।
अघट्टयत्परं तथाप्यसट्टयच्च सर्वशः ॥६५॥

किसी को कूट दिया, किसी दूसरे को किसी चीज से ढक दिया, किसी को किसी चीज में रगड़ दिया और किसी को किसी चीज में साट दिया ।६५।

ततो विनाशितेषु पातितेषु घातितेषु च ।
पलायितेषु शायितेषु भूतले मखे तदा ॥६६॥
प्रणर्तितुं तथैव कर्तुमट्टहासमीश्वरः ।
प्रचक्रमे बृहद्वपुर्दधन्नटाधिपेश्वरः ॥६७॥

तब बहुतों को नष्ट करके, बहुतों को पटक देने पर, बहुतों को मार कर, बहुतों के भाग जाने पर और बहुतों को जमीन पर सुला कर नटाधिपति (शिव जी) ने नाचने तथा अट्टहास करने के लिए विशाल शरीर धारण किया ।६६-६७।

तदीयनासिकासरत्प्रभञ्जनोरुरंहसा ।
महीरुहा विलोकिताः समुत्पतन्त एकदा ॥६८॥

उनकी नाक से निकलते हुए भयंकर वायु के वेग से वृक्ष पृथ्वी पर गिरते हुए एक साथ देखे गये ।६८।

सुरान् मखे समागतानिवाह्वयद्भिरुच्चकैः ।
घनाइतस्ततः कृतास्तदीयवाहुविभ्रमैः ॥६९॥

यज्ञ में आये हुए देवताओं को बुलाते हुए की तरह (नृत्य में) उनके बाहुओं के घुमाने से बादल तितर-बितर कर दिये गये ।६९।

यदा पदं समुत्क्षिपत्ययं हि देवतास्तदा ।
प्रकम्पिता विचुक्रुशुः प्रभोऽद्य पाहि पाहि नः ॥७०॥

शिवजी ने जब अपना पैर फेंका तब देवता लोग काँपते हुए ऐसा बोलने लगे—"हे प्रभो ! अब हमारी रक्षा करें, रक्षा करें" ।७०।

धरातले यदा स्म पातयत्ययं निजं पदम् ।
विनिः ससार वारि तत्ततोनिखातवच्च तत् ॥७१॥

जब पृथ्वी पर उन्होंने अपना पैर पटका तब वहाँ से खनित सरोवर की तरह जल निकल गया ।७१।

नमत्फणावलीस्रवत्क्षतोद्भवो न पन्नगः ।
कथञ्चिदेव भूतलं शशाक धर्तुमात्मना ॥७२॥

जिनके झुकते हुए फणों से रक्त निकलने लगा वैसे शेषनाग किसी- किसी प्रकार पृथ्वी को स्वयं धारण करने में समर्थ हुए ।७२।

ततोऽगमत्प्रियान्तिकं व्यलोकयत्तथाविधाम् ।
समानयन्निजाङ्कमाश्वसत्ततो नटन् हरः ॥७३॥

उसके बाद शङ्करजी ने सती के निकट जा कर उन्हें उस स्थिति में देखा और उन्हें अपनी गोद में ले कर नाचते हुए वहाँ से चले गये ।७३।

इति दक्षयज्ञविध्वंसः ॥

श्मशानवासी हरिश्चन्द्रः

भार्यां पुत्रसमन्वितां प्रथमतो विक्रीय पश्चान्निजं
दासः सत्यपरायणोऽचलमतिर्भूत्वा स्वयं श्वापचः।
स्वाम्याज्ञामनुपालयन्नृपहरिश्चन्द्रो निशायां गतो
घोरायां गुरुदण्डमात्रसहितो भीमश्मशानं प्रति॥१॥

अचल बुद्धिवाले और सत्य का पालन करने वाले राजा हरिश्चन्द्र पहले पुत्र सहित पत्नी को बेच कर तथा बाद में अपने को भी बेच कर स्वयं चाण्डाल का दास हो कर स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए भयानक रात्रि में एक लाठी मात्र लिए भयाह्क श्मशान में पहुँचे ॥१॥

आच्छन्नेऽतिभयङ्करे घनतमस्तोमेन मार्गे गरौ
गच्छन्नेकचरः 'पुरोपि निदधेपादौ क्व' न ज्ञातवान्।
उच्चैर्गर्जति धूमयोनिनिचये संसुप्तभूतव्रजे
काले कालवशेन कष्टमभजन्नैवात्यजद्धीरताम् ॥२॥

अत्यन्त गहरा अन्धकारसमूह से ढकी हुई अति भयङ्कर और विशाल रात्रि में अकेला जाते हुए जब कि यह भी नहीं पता चलता था कि आगे कहाँ पैर रखें, मेघ के जोर से गरजने पर चिताग्नि में सोये हुए प्रेतों के समय के वश में हो कर ऐसे समय में भी कष्ट सहन करके अपनी धीरता (गम्भीरता) को उन्होंने नहीं छोड़ा ॥२।

चण्डे वाति नभस्वति प्रतिदिशं झंझास्वने मूर्च्छति
घूत्कारं परितश्च कुर्वति महामोदादुलूकव्रजे।
क्रोष्टूनां निवहे रसत्यतिमदाच्चान्योन्यमेकत्रिते
को गच्छेद्विजने परेतनिलये धर्मो न चेद्रक्षकः ॥३॥

भयानक वायु के बहने से प्रत्येक दिशा में आँधी-पानी बढ़ने पर, सानन्द चारों ओर उल्लु-समूह के 'घू-घू' शब्द करने पर तथा अत्यन्त मदान्धता से परस्पर एकत्र हो कर सियार-समूह के बोलने पर यदि धर्म रक्षक नहीं हो तो प्रेतों के एकान्त निवास-स्थान पर कौन ज़ा सकता है ? ॥३॥

गत्वाऽपश्यदसौ क्वचिनरकरास्थि क्षिप्तमेकत्र च
मुण्डं कुत्रचिदन्यतश्च चरणं जङ्घनं कचानां चयम्।
सर्वाङ्गास्थि च सर्वतो युतमथो भूतं पृथग् भस्मनां
पुञ्जाँश्चास्थिसमन्वितानतितरां दीप्ते चितापावके ॥४॥

उन्होंने (हरिश्चन्द्र ने) वहाँ जा कर कहीं पर मनुष्य के हाथ की हड्डी फेंकी हुई देखी, कहीं पर मुण्ड फेंका हुआ देखा, किसी दूसरी जगह पर पैर, जंघा, केश-

समूह फेंका हुआ देखा, सभी जगह समूचे शरीर की हड्डियों को देखा, कहीं पर भस्म का ढेर देखा और कहीं पर दहकती हुई चिता पर माँस सहित हड्डी-समूह भी देखा ।४।

क्रोष्टूनां निकरस्तु तत्र कमपि प्राप्यैकसम्वत्सरं
बालं भूमितलान्मिथो घनरवं कुर्वँश्चखादान्यतः ।
केचिद्भूतलञ्च शैशवशवानुद्धर्तुमेवोद्यता
फुध्यन्ते स्म परस्परञ्च बहवो लब्ध्वा परेऽल्पंययुः ॥५॥

सियार-समूह ने वहाँ पर जमीन के तल से एक वर्ष के बच्चे को प्राप्त कर परस्पर घोर शब्द करता हुआ उसे खाया। कोई जमीन के तल से बच्चे के शव को उखाड़ने को तैयार था, बहुत-से आपस में लड़ रहे थे और कुछ अन्य थोड़ा-सा प्राप्त कर चले गये ॥५॥

जिह्वां स्वां मुखतो वहिश्चपलयन्तो भीमदंष्ट्राननाः
श्वानस्तत्र समागता बहुविधा बुक्कन्त उच्चैर्भृशम् ।
तान् दृष्ट्वा सहसा ऽपसर्पणपरा भूताः शृगालव्रजा
अस्यन्तोऽतिजवात् क्रमेण च पुरः पश्चात्स्वपादद्वयम् ॥६॥

मुख के बाहर अपनी जीभ को लपलपाते हुए भयानक दाढ़ (आगे के दो दाँत) वाले बहुत जोर से भौंकते हुए कई तरह के कुत्ते सियार-समूह सहसा (झट से) अत्यन्त वेग से अपने पैर को आगे-पीछे फेंकते हुए भागा ॥६॥

तेषामद्भुतसाहसास्तु बहवो दीप्ताच्चितारग्नेरुरो-
र्मांसं पक्वमवाप्य केचन करं पादं च दग्धामिषम् ।
तत्पार्श्वे पतितं शृगालवदनोच्छिष्टं च मासं परेऽ-
खादन् स्वाभिमतं च भाग्यनिहता अस्थ्यालिहन् केचन ॥७॥

उन कुत्तों में से अद्भुत साहस वाले बहुतों ने दहकती चिता की अग्नि से पका हुआ जंघे का मांस प्राप्त कर, किसी ने हाथ-पैर के पके हुए मांस को प्राप्त कर तथा किसी ने सियार के मुँह से बगल में गिरे हुए कुछ उच्छिष्ट मांस को खाया और कुछ भाग्यहीन हड्डियाँ चाटने लगे ॥७॥

आहूता वलये स्वकर्मकरणे प्रोद्यत्तमैः साधकै
र्नागच्छन् पुरतस्तु केचन भियाश्वभ्यो महद्भ्यस्तदा ।
क्रोष्ट्र्यो नैव तदर्पितञ्च कवलं पूर्वं यथाऽभक्षयन्
जाते जीवन संकटे स्मरति को भुक्त्यादि कार्यं भुवि ॥८॥

अपने कार्य में लगे हुए साधकों द्वारा बलि के लिए बुलायी हुई सियारियाँ बड़े-बड़े कुत्तों के डर से नहीं आयीं और उनके दिये हुए कौर को पहले उन्होंने नहीं खाया। जीवन का संकट आने पर भोजनादि कार्यों पर कौन ध्यान देता है ? ॥८॥

प्रेतानां निवहोऽपरत्र विविधक्रीडां स्वयोग्यां महा-
मोदापूरपरः प्रियापरिगतश्चित्रां प्रचक्रुर्यथा ।
रक्तं पाययति प्रियां, च पिबति प्रीत्या स्म मुण्डाचित-
मुच्चैर्गायति विस्वरं च हसति स्म प्रेक्षते सर्वतः ।।९।।

किसी और जगह प्रेत-समूह अत्यन्त आनन्दपूर्ण हो अपनी पत्नियों के साथ अपने लायक अनेक प्रकार की कीड़ा करता था। कोई अपनी प्रिया को खोपड़ी में रखा हुआ रक्त पिलाता था तथा जोर से भयानक स्वर में गाता था, हँसता था और चारों ओर देखता था ।।९।।

आक्षिप्यैकशवं चितोपरिगतं क्रोडे निधाय स्वके
भुङ्क्ते भोजयते स्म च प्रणयिनीं प्रीतिं परां प्रेक्षयन् ।
अन्येषां न्यददाच्च दानदयितो दैन्यं गतानां निज
बन्धूनामनु तस्य तत्र गमनाद्भूपस्य तादृक् फलम् ।।१०।।

कोई प्रेत चिता पर पड़ा हुआ शव ले कर उसे अपनी गोद में रख कर लाता था और अत्यन्त प्रेम से देखती हुई अपनी पत्नी को भी खिलाता था। दान देने में श्रेष्ठ उस प्रेत ने अपने अन्य दीन परिवारों को भी मांस दिया। उस प्रेतराज के यहाँ जाने पर उन्हें वैसा ही फल प्राप्त हुआ ।।१०।।

दुर्गन्धं पृथुशोथनिर्गतजलं निष्प्राणमप्यालयं
प्राणानां विपुलं शवं कमपि चादायापरत्राऽपरे ।
उद्घाट्य त्वचमाहरन्ति पिशितान्यन्त्राणि च स्मान्यतः ।
कृत्ति केऽपि च भुञ्जतेऽथ बहवोऽस्थीन्यालिहन्ति स्म च ।।११।।

उस दुर्गन्धित विशाल शव को ले कर, जिसके विशाल शोथ से जल निकल चुका था और जो निष्प्राण होते हुए भी प्राणों का आश्रय था, कोई चमड़ा खींच रहा था, कोई हड्डियों को चाट रहा था; कोई मांस और कोई अँतड़ियाँ खींच रहा था ।।११।।

रक्तैरारचिताङ्गरागरचना गुर्वन्त्रमालाधरा
अस्थ्युद्भासितमौलयो धृतमहाचर्माम्बराः काश्चन ।
नृत्यन्ति स्म पिशाचिकाश्च रुधिरं पीत्वा हसन्ति स्म च
क्रीडन्ति स्म च कंदुकैरिव महामुण्डैः श्मशानस्थले ।।१२।।

श्मशान भूमि पर कई पिशाचिनियों ने रक्त से शरीर में अङ्गराग किया, विशाल अँतड़ियों की माला धारण कर ली, हड्डियों को सिर पर धारण कर लिया तथा विशाल चमड़े का वस्त्र धारण कर लिया और वे सब लहू पी कर हँसती थीं, नाचती थीं और बड़े-बड़े मुण्डों से गेन्द की तरह खेलती थीं ।।१२।।

एतत्सर्वमवेक्ष्य धर्मनिवहध्वस्तं तथा भीषणं
सत्ये स्थापितमानसो नृपहरिश्चन्द्रो न संचुक्षुभे ।

गत्वाग्रे च ददर्श मन्दिरमतिक्षुद्रप्रतीहारकं
प्रायोगह्वरवच्च तत्र महतींभीमाकृतिंचण्डिकाम् ।।१३।।

धर्म-समूह का विनाशक एवं भयानक इन सब को देख सत्यनिष्ठ मन वाले राजा हरिश्चन्द्र को तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ। आगे चल कर उन्होंने गुफा की तरह छोटा-सा द्वार वाला मन्दिर देखा जिसमें भयंकर रूप वाली काली (चंडी) थीं।१३।

शम्भोर्वक्षसि दक्षिणं पदमथो वामं तथोर्वोन्तिरे
न्यस्यच्छिन्न शिरश्च खड्गमभयं हस्तैर्दधानां वरम्।
श्यामाङ्गीं विकटाननां गुरुललज्जिह्वां शिरोमालिकां
रक्तारक्तशरीरिणीभिरभितः कन्याभिरासेविताम् ।।१४।।

वह अपना दाहिना पैर महादेवजी की छाती पर और बायाँ पैर उनकी जाँघों के बीच रखी हुई, अपने हाथों में कटा हुआ सिर, तलवार, अभय और वर धारण की हुई, श्यामाङ्गी, भयंकर मुखवाली, लपलपाती विशाल जीभवाली, मुण्डों की माला पहनी हुई रक्त से लाल शरीरवाली कन्याओं से सर्वतः सेवित थीं ।।१४।।

दृष्ट्वाभीप्सितदायिनीं निजकुलप्रख्यातदेवीं शिवां
नत्वां तां भुवि दण्डवन्निपतितैरङ्गैरशेषैः स्वकैः ।
"सद्बुद्धिं निजकार्यसाधनविधौ स्वाम्याज्ञया देहि मे"
सम्प्रार्थ्यैवमनेकशो निजकृतिं कर्तुं समासक्तवान् ।।१५।।

इच्छित वस्तु देने वाली अपने कुल की विख्यात देवी शिवा को देख, समस्त अङ्गों से जमीन पर लाठी की तरह गिर कर, उन्हें प्रणाम कर, अनेक बार ऐसी प्रार्थना की कि "स्वामी की आज्ञा से अपने कार्य की सिद्धि में मुझे सद्बुद्धि दें" अपना काम करने को वह तैयार हो गये ।।१५।।

रामाह्वानमिहास्ति सत्यमितरन्मिथ्येत्यसौ दूरतः
श्रुत्वा संकुलभाषितं निजकरादानाय तत्राव्रजन् ।
क्रन्दन्तीमवलाञ्च शोकसहितं वृद्धं करं प्रार्थयन्
धैर्याद्भीषणभीषणा अपिनिशा कांश्चिन्निनायैव ताः ।।१६।।

दूर से ही सब की मिली-जुली आवाज सुन कर कि राम का नाम ही यहाँ सत्य है तथा और सब झूठा है, अपना कर लेने के लिए राजा वहाँ पहुँचे। रोती हुई स्त्री से और शोक सहित वृद्ध से कर माँगते हुए अत्यन्त भयानक से भी भयानक रात्रियों को धैर्य के साथ उन्होंने बिताया ।।१६।।

एकस्मिन् दिवसे श्मशानधरणीं स्वावासतो गच्छतो
भूपस्यापनिमित्तमीषदभवत्प्राक् शोभनं तत्परम् ।
वामाक्षिस्फुरणञ्च दक्षिणभुजप्रस्पन्दनं तद्यथा-
गाधं चापि हृदस्य संकुलमिवाभूत्तोयधेर्मन्थनात् ।।१७।।

एक दिन अपने आवास से श्मशान भूमि पर जाते हुए राजा को पहले थोड़ा अपशकुन और फिर शुभ शकुन हुआ जैसे बायीं आँख का फड़कना और दाहिनी भुजा का फड़कना, जिससे अगाध हृदय वाले (राजा) का हृदय उसी प्रकार चंचल हो गया जिस प्रकार समुद्र का मन्थन से हो जाता है ।।१७।।

गत्वा पूर्ववदात्मकर्मनिरतो यामद्वयं नीतवान्
श्रुत्वा क्रन्दनमर्धरात्रिसमये कुत्रापिमर्मस्पृशम्
तादृङ् नित्यविलापसंश्रुतिमहामूढश्रुतिर्भूपतिः
किञ्चिच्चञ्चलतामवाप सहसा निःसाहसोऽभूत्तदा ।।१८।।

पहले की तरह जा कर अपने काम में लगा हुआ राजा ने दो पहर रात बितायी। प्रतिदिन रुदन सुनने से जिनके कान बहरे हो गये हैं वैसे राजा ने आधी रात के समय कहीं पर मर्मस्पर्शी रुदन सुन कर कुछ चंचलता को प्राप्त किया और वह शीघ्र साहस रहित हो गये ।।१८।।

पश्चाद्वस्त्रसमावृतं शिशुमसावेकं कराभ्यां मृत-
मादायाव्रजतीं शनैः कृतधरापादाब्जसंसर्पणाम् ।
प्रातश्चन्द्रनिभाननां हिमकणव्याप्ताक्षिपद्मद्वयां
दैन्यात्क्रन्दवतीं विलोक्य वनितां धैर्यं कथञ्चिद्दधौ ।।१९।।

इसके बाद कपड़े में लिपटा हुआ एक मृत बच्चे को दोनों हाथों से ले कर आती हुई, धीरे-धीरे अपने चरण-कमलों से पृथ्वी को स्पर्श करती हुई, प्रातःकालीन चन्द्रमा-सा मुख वाली, ओस के कणों से युक्त कमलनयनों वाली किसी महिला को दीनता से रोती हुई देख कर किसी प्रकार (उन्होंने) धैर्य धारण किया ।।१९।।

सोरस्ताडनमात्मपुत्रमबला भूमौ विधायान्तिमं
संस्कारं न विधातुमस्य सहसा शोकाद्यदा साऽशकत् ।
तावद्भूपतिरागमन्निजकरादानाय दान्यग्रणी-
रालोक्याति निराश्रयां स वनितां किञ्चित्सतर्कोऽभवत् ।।२०।।

वह महिला छाती पीटती हुई अपने पुत्र को जमीन पर रख कर शोक के कारण जब इसका अन्तिम संस्कार करने में समर्थ नहीं हुई तब दानियों में अग्रगण्य राजा अपना कर लेने आये और आश्रयहीन उस महिला को देख कुछ सावधान हुए ।२०।

अत्रैवादयमेव कार्यमनिशं कर्तुं गृहीतव्रत-
स्याद्यैनामवलोक्य मेति विकलं चेतो न जाने कथम् ।
भात्यस्याः स्वरसंश्रुतिः परिचिते वैतत्कथं विद्यतां
यद्वा स्यात्कुलकामिनी ध्रुवमियं दुःखेऽपि नेपथ्यभाक् ।।२१।।

इस स्थान पर निर्दयता के साथ सदा काम करने के लिए नियम धारण किया मेरा चित्त आज इसे देख कर न जाने क्यों अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। इसके स्वर

सुनने में परिचित मालूम पड़ते हैं, किन्तु यह कैसे हो सकता है ? अथवा यह किसी अच्छे कुल की कामिनी है जिसने दुःख में भी अपने मुख को ढक रखा है ॥२१॥

बालोयं सुविशालपीवरभुजः पीनोन्नतोरःस्थलो
दीर्घाक्षोऽतिबृहल्ललाटफलकः पाण्यब्जमीनाकृतिः ।
ऊर्ध्वैकाङ्कपदो न कस्य मनसि स्वं चक्रवर्तिक्षमं
चिह्नं भासयते बलात्कथमहोऽस्तं प्रापितः कालतः ॥२२॥

यह जो बालक है उसकी भुजाएँ लम्बी और मोटी हैं, छाती चौड़ी है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं, ललाट काफी चौड़ा है तथा हाथ में कमल और मीन की रेखाएँ हैं। यह किसे नहीं ज्ञात है कि उर्ध्व रेखा (ऊपर में रेखा) चक्रवर्ती होने का चिह्न है ? आश्चर्य है कि काल ने इसे असमय में ही क्यों अस्त कर दिया ॥२२॥

तारं नेत्रयुगं समुज्वलमिदं निष्पन्दतारं शिशो-
र्व्यात्तं चास्य मुखं रदाश्चकिमिति श्यामाधरोऽपीदृशः ।
स्वर्णाभेऽपि वपुष्यहो कृतपदं कृष्णत्वमालक्ष्यते
तन्नूनं कवलीकृतः शिशुरसौ क्ष्वेडेन कालेन हा ॥२३॥

इस बच्चे की दोनों आखें बड़ी-बड़ी हैं, किन्तु इनके अत्यन्त उज्वल तारे चञ्चल नहीं हो रहे हैं, इसका मुख खुला है, इसके दाँत और होठ काले हो रहे हैं तथा इसका शरीर भी कालापन लिया हुआ दीखता है। अतः यह निश्चित है कि यह बच्चा विषैले काल द्वारा कवलित हो गया है ॥२३॥

यद्वा स्यान्ममचिन्तनेन किमिति स्वं साधये साधनं
नाहं स्वैरचरः श्मशानवसुधाराजानुशिष्योऽस्म्यहम् ।
स्वाम्याज्ञापरिपालनं मम परो धर्मोऽस्ति, चेतो भवे-
त्खिन्नं वा सुखितं च धीरमथवाधैर्यान्वितं तेन किम् ? ॥२४॥

अथवा मुझे चिन्ता करने से क्या होगा ? मैं अपना काम जल्दी करूँ। मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ; मैं श्मशान भूमि के राजा का सेवक हूँ। स्वामी की आज्ञा का पालन करना मेरा परम धर्म है। मेरा मन खिन्न हो अथवा प्रसन्न, धैर्ययुक्त हो अथवा धैर्य-रहित—इससे क्या ? ॥२४॥

शुल्कं मे प्रथमं प्रयच्छ वनिते ! पश्चाच्छिशोः संस्कृतिं
कुर्या इत्यभिधाय पाणिकमलं प्रासारयत्स्वं तदा ।
किञ्चिन्नास्ति ममान्तिके किमुददे द्रव्यं कुतो वेति साऽ-
संसद्दीनतरं शनैरथ हरिश्चन्द्रः पटं प्रार्थयत् ॥२५॥

"हे महिला ! पहले मेरा कर दे दो, बाद इस बच्चे का संस्कार करना"—ऐसा कह कर उन्होंने (हरिश्चन्द्र ने) अपना करकमल पसार दिया। (उस महिला ने कहा—) "मेरे पास कुछ भी नहीं है, क्या दूँ ? मेरे पास पैसे कहाँ ? मैं तो अत्यन्त

दीन हूँ।" तब हरिश्चन्द्र ने धीरे से कपड़ा माँगा ॥२५॥

वासः खण्डमिदं शिशूपरिधृतं मे वस्त्रतश्छेदितं
दत्वैतत्किमु संस्करोमि तनयं नग्नं न जाने कथम् ?।
आः कष्टं वसुधाधिपस्य सुकृतप्राणस्य सत्यावितुः
सूनुः संस्कृतिमेति पश्चिमतमावस्त्रं विनाधिग्विधिम् ॥२६॥

(तब उस महिला ने कहा—) "बच्चे के ऊपर रखा हुआ इस वस्त्र का टुकड़ा मेरे वस्त्र से कटा हुआ है। इसे यदि मैं आप को दे दूँगी तो नग्न पुत्र का संस्कार कैसे करूँगी ?—यह समझ में नहीं आता। आह ! कैसा कष्ट है ! समस्त पृथ्वी का धर्मप्राण एवं सत्य-रक्षक राजा के पुत्र का अन्तिम संस्कार भी बिना वस्त्र का किया जा रहा है। विधि को धिक्कार है !" ॥२६॥

श्रुत्वैतत्करुणं वचो नृपहरिश्चन्द्रस्तु पूर्वं महो-
द्विग्नोऽभूत्कुलिशाहतो गिरिरिव स्थैर्यं जहौ न क्षणम्।
पश्चात्पाणिमसीसरन्निजमथावोचत् "करं देहि मे"
धैर्यं धेहि कुलाङ्गने ! नहि भवेत्कालः सदैकादृशः ॥२७॥

इस प्रकार के करुण वचन सुन कर राजा हरिश्चन्द्र पहले तो अत्यन्त उद्विग्न हुए, किन्तु वज्र से आहत पहाड़ की तरह क्षण भर के लिए भी उन्होंने स्थिरता को नहीं छोड़ा। अपने हाथ को आगे बढ़ा कर उन्होंने कहा—"मेरा कर दे दें। हे कुलाङ्गने ! धैर्य धारण करें। समय सदा एक-सा नहीं रहता" ॥२७॥

यद्धेतोर्जनुराप्तमत्र भुवने सर्वं तदालोकितं
किञ्चिद्यत्परिशिष्टमेतदधुना सन्दृष्टमप्यादरात्।
नालोक्यं खलु वर्तते किमपि तत्प्राणा व्रजन्त्वद्य मे
प्रोच्यैवं सहसा सती निज तनु त्यक्तुं प्रवृत्ताऽभवत् ॥२८॥

"जिसके लिए इस संसार में जन्म लिया था, वह सब मैंने देख लिया। जो कुछ भी बचा हुआ था उसे भी मैंने देख लिया। अब तो देखने के लिए कुछ भी रहा नहीं। इसलिए मेरे प्राण आज चले जायें।"—ऐसा कह कर वह सती शैव्या प्राण त्यागने को तैयार हो गयी ॥२८॥

धर्मं रक्षितुमेव राज्यमखिलं त्यक्तं गृहं स्वं समं
सौख्यञ्चापि मनोऽनुकूलमबले ! छन्दानुवृत्तं जनम्।
कान्तं सत्यपरायणं पतिरते ! दुःखं परं प्रापिथ
किं धैर्यं प्रविहाय सम्प्रति निजप्राणान् परित्यक्ष्यसि ॥२९॥

"हे पतिव्रते ! धर्म की रक्षा करने के लिए अपना समस्त राज्य, घर, अपने सभी मनोनुकूल सुख, अपनी इच्छा के अनुकूल चलने वाले अनुचर तथा अपने सत्य-परायण पति को भी छोड़ कर तुम ने अत्यन्त दुःख प्राप्त किया। इस समय धैर्य को छोड़ कर क्यों प्राण त्यागना चाहती हो ?" ॥२९॥

कोऽयं मां प्रतिबोधयत्यसुलभं धैर्यं क्षणे सङ्कटे
जानन्नस्ति च मद्गतेतिचरितं बन्धुर्यथा भाषते।
वागस्यापि च विद्यते परिचिता ज्ञाताऽभवं किन्वहं
तद्यत्कृत्यमिहास्ति तूर्णमधुना कृत्वा लभे निर्वृतिम् ॥३०॥

"संकट के इस क्षण में मुझे कौन दुर्लभ धैर्य का ज्ञान करा है ? जान पड़ता है कि मेरे इतिवृत्त को यह जानता है। परिवार की तरह यह बोल रहा है। इसकी बोली भी परिचित लग रही है। मैं पहिचान ली गयी क्या ?' इस समय के सारे कार्यों को शीघ्र करके निश्चिन्त हो जाना चाहिए ॥३०॥

कस्त्वं सज्जन ! वान्धवोऽसि मम यद्धैर्यं ददासीदृशं
यद्वा कोऽपि परोपकारनिरतः सन्मार्गदर्शी मुनिः।
देवो वा करुणाकरः किमथवा साक्षान्महेशोऽसि भोः !
धर्मो वा किमु पूर्वसञ्चिततमो दुष्कर्मणो रक्षसि ॥३१॥

"हे महानुभाव ! आप कौन हैं ? मेरा परिवार जान पड़ते हैं चूँकि आप इस प्रकार का धैर्य मुझे दे रहे हैं अथवा आप परोपकार में लगे हुए कोई सन्मार्ग बतलाने वाले मुनि हैं अथवा कृपालु कोई देव हैं अथवा साक्षात् भगवान शङ्कर हैं अथवा पूर्वजन्म का संचित धर्म ही मुझे दुष्कर्म से रक्षा कर रहा है ?" ॥३१॥

प्रागासं तव कोऽपि नाहमधुना यद्भाषसे तादृशः
क्रीतोऽस्मि श्वपचेन धर्ममवितुं तत्सेवकः साम्प्रतम्।
तस्याज्ञापरिपालनं मृतमहीशुल्काहृतिश्चावले !
कार्यं कर्कशमस्ति तस्य करणे न्यूनस्ततो नास्म्यहम् ॥३२॥

"जैसा तुम कहती हो वैसा पहले मैं तुम्हारा कोई था, किन्तु अब नहीं हूँ। अभी धर्म की रक्षा के लिए चाण्डाल के हाथ बिका हुआ हूँ और इस समय उसी का सेवक हूँ। उसी की आज्ञा का पालन करने में तथा श्मशान में कर लेने का अत्यन्त कठिन कार्य करने में भी मैं कमी नहीं कर रहा हूँ ॥३२॥

तत्प्राग् धर्मपरायणे ! करमरं दत्त्वा यथानिश्चितं
कृत्वा चात्मजसंस्कृतिं द्रुततरं याहि स्वपत्याश्रमम्।
विक्रीतं न, कलेवरं तव शुभे ! तत्त्यक्तुमुद्यच्छसि
धर्मस्य स्मर सर्वदा कुसमयेऽसौ रक्षितो रक्षति ॥३३॥

"इसलिए हे धर्मपरायणे ! पहले यथानिश्चित कर दे कर शीघ्र अपने पुत्र का संस्कार करके अपने मालिक के घर जाओ। हे शुभे ! क्या तुम्हारा शरीर बिका हुआ नहीं है ? उसे तुम त्यागना चाहती हो ? खराब समय में सदा धर्म का स्मरण करो। रक्षित धर्म ही रक्षा करता है" ॥३३॥

शैव्या तद्वचनं निशम्य नितरां निश्चित्य कान्तोदितं
साश्चर्या च सकम्पना प्रमुषितज्ञानाऽभवत्तत्क्षणम् ।
पश्चादुन्मिषदिन्द्रिया सकरुणं क्रन्दन्त्यसौ स्वामिनः
पादौ स्प्रष्टुमुपागता किमपि सम्बुध्याथ रुद्धा ततः ॥३४॥

उनके वचन सुन शैव्या उसे अपने पति का वचन निश्चित करके आश्चर्य एवं कम्पयुक्त हो गयी और उस क्षण उसका ज्ञान नष्ट हो गया। बाद उसके नेत्रादि इन्द्रिय काम करने लगे। करुणा के साथ रोती हुई वह पति के पैरों को स्पर्श करने को आगे आयी, किन्तु बाद में कुछ समझ कर रुक गयी ॥३४॥

मोक्तुं धार्मिकबन्धनान्निजपतिं, निक्षिप्य दुःखार्णवे
स्वं, प्राप्तासि पवित्रतां च जगतां वन्द्या त्वमेवाधुना ।
दारात्मोद्भवविक्रयाप्तदुरितस्यापि स्वधर्मग्रहस्या-
र्ये! श्वापचसेवकस्य चरणौ किं मे स्पृशस्यादरात् ॥३५॥

"हे आर्ये! अपने पति को धार्मिक बन्धन से छुड़ाने के लिए अपने को दुःख-समुद्र में डाल कर तुमने पवित्रता को प्राप्त किया है और इस समय संसार में तुम्हीं पूज्या हो। पत्नी एवं पुत्र के विक्रय के कारण पापी तथा अपने धर्म में हठ करने वाले चाण्डाल-सेवक के चरणों को आदर के साथ तुम क्यों छूती हो?" ॥३५॥

धर्मं पातुमलं त्वया यदुदित तन्नाथ! सर्वं कृतं
तत्किं धर्मविपर्ययस्तव भवेत्किम्वा स्पृशेत्पातकम् ।
दुःखस्यापतितोऽचलो मयि महाँस्तस्येदृशं चेष्टितं
यत्त्वं वारयसेऽधुना प्रियतमोऽपि स्पर्शनात्पादयोः ॥३६॥

"हे नाथ! धर्म की रक्षा करने के लिए आपने जो कुछ भी कहा वह सब मैंने किया। इसमें आप को अधर्म और पाप क्यों स्पर्श करेगा? मेरे ऊपर दुःख का विशाल पर्वत गिरा है। इसी की यह चेष्टा है कि मेरे प्यारे पति भी मुझे अपने पैरों को छूने से इस समय रोकते हैं ॥३६॥

दुःखे ह्यापतिते न कोऽपि कुरुते साहाय्यदानं ध्रुवं
यः कश्चिद्धितचिन्तकोऽपि प्रथमं, तस्मिन् जहाति क्षणे ।
अन्यत्किं? परिसेविता निजतनुः किञ्चिद्विधत्ते न चे-
द्धा दैवं बलवत्तरं किमथवा स्वं कर्म सर्वप्रदम् ॥३७॥

"दुःख आने पर कोई भी सहायता नहीं करता। जो पहले हितचिन्तक भी रहता है वह उस अण में छोड़ देता है। और क्या कहूँ? अपना पोषित शरीर भी उस समय कुछ नहीं कर सकता। इसलिए, हा! दैव ही बलवान् है अथवा अपना कर्म ही सब कुछ देने वाला होता है" ॥३७॥

किं कालं गमयस्यलं द्रुततरं कार्यं विधाय व्रज
यद्यद्दर्शयते विधिस्तु मनुजैस्तत्सर्वमालोक्यते ।
नेदानीं तव वल्लभोऽस्मि दयिता त्वञ्चापि नैवासि मे
दासोऽहं श्वपचस्य विप्रगृहिणी सेवाव्रतास्यद्य च ॥३८॥

"समय क्यों बिता रही हो ? जल्दी से अपना काम करके तुम जाओ। भाग्य जो-जो भी दिखलाता है, वह सब मनुष्य को देखना पड़ता है। इस समय न तो मैं तुम्हारा प्रिय पति हूँ और न तुम्हीं मेरी प्रिय पत्नी हो। मैं तो चाण्डाल का दास हूँ और तुम ब्राह्मण-पत्नी की सेविका" ॥३८॥

श्रुत्वा कान्तवचः सती तदुचितं नीत्याश्रितं निष्ठुरम्
पूर्वं व्याकुलमानसा ऽभवदसौ पश्चाद्धृतिं सन्दधे ।
कः पश्चेन्निशि वस्त्रखण्डमधुना स्वीयं ददे स्मा इति
निश्चित्याभिदधे गृहाण वसनं छित्त्वा स्वयं मे प्रभो ! ॥३९॥

वह (पतिव्रता (शैव्या) पति के उचित और नीतियुक्त किन्तु निष्ठुर वचन सुन कर पहले तो मन से अत्यन्त व्याकुल हुई लेकिन बाद में उसने धैर्य धारण किया। रात में कौन देखता है ? इस समय अपने वस्त्र का टुकड़ा इनको दे देती हूँ, ऐसा निश्चय कर वह बोली—"हे प्रभो ! मेरे वस्त्र को आप स्वयं काट कर ले लें" ।३९।

साधु, त्वत्सदृशार्ययैव धरणी धन्या स्त्रिया सर्वदा
धैर्येणाद्य जितं सति ! त्रिभुवनं भूयो निगद्येति ताम् ।
वासश्छेत्तुमवर्द्धयन्निजकरद्वन्द्वांगुलीस्तत्क्षणं
खात्पेतुः सुमनोभरा सुमनसां हर्षस्वनानुव्रजाः ॥४०॥

"अच्छा, हे सती (पतिव्रते) ! तुम्हारे सदृश श्रेष्ठ महिला से ही पृथ्वी सदा धन्य है। आज तुमने अपने धैर्य से तीनों लोकों को जीत लिया।" फिर उससे ऐसा कह कर उन्होंने उसके वस्त्र को फाड़ने के लिए अपने दोनों हाथों की दो अंगुलियों को जैसे ही बढ़ाया कि देवों की आनन्द-ध्वनि के साथ आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई ।४०।

एतत्किं ? कुत इत्यहो सचकितं सम्प्रेक्षमाणावुभा-
वामोदातिमुदावपस्मृतनिजव्यापारशून्यान्तरौ ।
देवास्तौ वरदम्पती समुनयस्तत्रोपजग्मुर्मुदा
सत्यासक्तमना न दुर्लभमपि प्राप्नोति किं भूतले ॥४१॥

"यह क्या ? यह कहाँ से आया ?" आश्चर्यचकित देखते हुए दोनों हर्ष के कारण अपना काम भूल गये और उनका मन शून्य हो गया। ऐसे श्रेष्ठ दम्पती के पास मुनिगण के साथ देवगण हर्षित हो वहाँ पहुँच गये। जिसका मन सत्य में लीन रहता है उसके लिए संसार में कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं है ॥४१॥

इति श्मशानवासी हरिश्चन्द्रः ।

कीचकवधः

सुयोधनद्यूतमिषेण निर्जिता युधिष्ठिराद्यास्त्रिगुणाश्चतुः समाः ।
अतीत्य कृच्छ्रेण वनाधिवासिनो विराटगेहेऽविदितस्थितिं व्यधुः ॥१॥

दुर्योधन के छल से जुआ में पराजित एवं वन मे रहने वाले युधिष्ठिर आदि (पाँच भाई और द्रौपदी) ने बहुत ही कष्ट से बारह वर्ष बिता कर विराट के घर में अज्ञातवास किया ॥१॥

तदीय भार्या द्रुपदात्मजा किल सहावसत्तत्र च काचनेव तैः ।
विराटसैन्याधिपतिस्तु कीचको वभूव तस्यामनुरक्तवान् खलः ॥२॥

पाण्डवों की भार्या द्रुपदपुत्री किसी अन्य स्त्री की तरह उन्हीं के साथ रहती थी, जिसमें विराट का सेनापति दुष्ट कीचक अनुरक्त हो गया ॥२॥

पराश्रयां तत्पतयो न तां यदा वलेन पातुं सहसाऽशकन् सतीम् ।
वसन्ति गन्धर्ववरास्तदाश्रया न्यवेदयन्नित्यभितः सयुक्तयः ॥३॥

उसके पति जब अपने वल से पराधीन पतिव्रता द्रौपदी की रक्षा करने में असमर्थ हो गये तब उसने युक्ति से यह बात सर्वत्र फैला दी कि मेरे साथ गन्धर्व लोग रहते हैं और मैं उन्हीं के अधीन हूँ ॥३॥

निशम्य गन्धर्ववरस्थितिं खलः स कीचकोऽभूदवशुष्यदन्तरः ।
प्रनर्तयन् भ्रूनिटिलाक्षिमस्तककराग्रमित्थं समचिन्तयत्तदा ॥४॥

गन्धर्वों की स्थिति सुन कर उस दुष्ट कीचक का हृदय सूख गया और भौं, ललाट, आँख, सिर, हाथ आदि को नचाता हुआ वह चिन्ता करने लगा ॥४॥

सुधाशिनस्ते रसिकाः किमु ध्रुवं विहाय नित्याद्भुतयौवनाः प्रियाः ।
क्षण-क्षण क्षीण मनोज्ञयौवनां वसन्ति मर्त्यामवलम्ब्य साम्प्रतम् ॥५॥

"अमृत पान करने वाले रसिक (गन्धर्व) नित्य अद्भुत यौवन वाली अपनी पत्नियों को निश्चित रूप से छोड़ कर ऐसी मानवी युवती के पास क्यों आते हैं जिसकी जवानी क्षण-क्षण क्षीण होने वाली है ? ॥५॥

निमेषवैचित्र्यविलासवञ्चिता निरीक्ष्य कान्ता अथवा समुत्सुकाः ।
किमेतदीयाद्भुतवीक्षणाहृता यथाहमालम्ब्य वसन्त्यभीप्सवः ॥६॥

"अथवा पलकों (आँखों की पुतलियों) की विचित्रता के विलास से वंचित अपनी पत्नियों को देख, इस (द्रौपदी) के अद्भुत नयनों से आकृष्ट हो कर मेरी ही तरह उत्कण्ठित रहते हैं ॥६॥

न तेषु कश्चित्, खलु पञ्चसङ्ख्यका विचित्रमेतद्विषयाध्वनिध्रुवम् ।
विवादमेते न कथं परस्परं प्रकुर्वते सीधुनिषेव्य मोहिताः ॥७॥

"उसके कोई एक नहीं, पाँच-पाँच पति हैं। प्रेम-मार्ग में यह विचित्र स्थिति है। ये सब आपस में झगड़ते क्यों नहीं ? जान पड़ता है कि ये लोग मदिरा पी कर विवेकशून्य बने रहते हैं ॥७॥

सुहृत्तमास्ते निजकार्यसाधका विहाय वैरं मिलिता वसन्ति वा ।
विरोधमूलं यदपि स्त्रियः परं सदैकचित्तेषु न वैरमर्हति ॥८॥

"ये गन्धर्व अत्यन्त सहृदय और अपना कार्यसिद्ध करने वाले हैं। ये वैर को छोड़ आपस में मिलजुल कर रहते हैं। यद्यपि स्त्रियाँ वैर की जड़ होती हैं तथापि एक तरह के चित्त वालों में वैर नहीं होता ॥८॥

स्त्रियाश्चरित्रं गहनं सुदुर्गमं न वेत्ति वा कश्चन तीव्रधीरपि ।
न जानतेऽन्योन्यमिमेऽन्यसंस्थितिं सहानया तद्विलसन्त्यखण्डितम् ॥९॥

"स्त्रियों का चरित्र कठिन (गहन) और दुर्बोध होता है जिसे तीव्र बुद्धि वाला व्यक्ति भी नहीं जानता। अथवा ये लोग एक दूसरे की स्थिति को नही जानते हैं। इसीलिए इसके साथ मिल कर विलास करते हैं ॥९॥

यदीत्थमेषा न कथं ममाश्रयं प्रदास्यति श्रीगुणरूपमोहिता ।
विधास्यते वा प्रतिकूलतां कथं समप्रधानोस्म्यहमत्र मण्डले ॥१०॥

"यदि ऐसा है तो वह मेरे श्री (धन), गुण, रूप (सौन्दर्य) से मोहित हो कर मेरे आश्रय में क्यों नहीं आयगी ? अथवा वह मेरे विरुद्ध कैसे जा सकती है ? इस मण्डल में मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ ॥१०॥

विराट एतद्वरपक्षमाश्रितो विधास्यते चेद्द्वरविग्रहं मया ।
ध्रुवं तदीयं मदधीनमाशु तत् सुराष्ट्रकं नङ्क्ष्यति नैव पास्यते ॥११॥

"विराट यदि इनके (द्रौपदी के पतियों के) पक्षपाती हो कर मुझसे झगड़ा करेगा तो मेरे अधीन उसका यह राज्य निश्चित ही नष्ट हो जायगा और वह इस (राज्य) की रक्षा नहीं कर सकता ॥११॥

शतं ममात्मप्रतिमा बलाधिकाः स्वबान्धवाः शासनकारिणो ध्रुवम् ।
शरीरचेतोवचनैः प्रियं सदा नते करिष्यन्ति विचिन्तया कृतम् ॥१२॥

"मेरे ही समान बलशाली मेरे सैकड़ों बान्धव यहाँ शासन करने वाले हैं जो विनम्र रहते हुए तन-मन-वचन से सदा चिन्ता-रहित हो कर मेरा प्रिय करेंगे ।१२।

न तज्जनानामयुतप्रमाणकैः पराक्रमैः सेत्स्यति कर्म किं मम ।
वसन्ति गन्धर्ववरास्तु पञ्चका वसन्त्वभीक्ष्णं शतशो न मे भयम् ॥१३॥

"दस हजार (संख्या में) पराक्रमी लोगों से मेरा यह कार्य क्यों नहीं होगा ? गन्धर्व तो मात्र पाँच हैं, यदि वे सौ भी रहें तो मुझे भय नहीं है" ॥१३॥

इतिस्थिरी कृत्य मनस्यसौ खलः स्वयं ययाचे रतिलम्पटः सतीम्।
तदैव निर्भत्स्यं च तं नृपालयं जगाम सा भूपमुवाच कृत्स्नशः ॥१४॥

"मन में ऐसा निश्चित करके रति में लम्पट उस दुष्ट ने उस सती से स्वयं याचना की। उसी समय उसे डाँट कर वह राजा के घर में गयी और उसने उन्हें सब कुछ बतला दिया ॥१४॥

स चापि गत्वा नृपसन्निधावमूं कचेगृहीत्वा सदसि स्म पश्यति।
करोति पादप्रहृतिं, न रक्षको बभूव तस्याः, खलु दुष्टतो भयम् ॥१५॥

राजा के समीप जा कर उसके (द्रौपदी के) केश को पकड़ कर सभासदों के समक्ष ही उसने उस पर पाद-प्रहार किया। उसका कोई भी रक्षक नहीं हुआ और उस दुष्ट का भय बना ही रहा ॥१५॥

कदापि भीमं द्रुपदात्मजा रहोऽलपद्विलापं विदधत्यधीरधीः।
त्वयि स्थिते वीरवरे दशेति मे कथं नु सह्या वद सर्वथा भवेत् ॥१६॥

कभी धैर्य-रहित रोती हुई द्रौपदी ने एकान्त में भीम से कहा—"बताओ, तुम-सा महावीर के रहते मेरी यह दशा सदा कैसे सह्य होगी?" ॥१६॥

प्रियागिरा खिन्नमना वृकोदरो जगाद तां किन्तु विभेषि भामिनि!।
य ईक्षते त्वां नयनेन मन्दधीर्विलोचनं स्वं न कथं तदैव सः ॥१७॥

पत्नी के वचन से खिन्न मन हो भीम ने उससे कहा—"अयि भामिनी! तुम डरती क्यों हो? जिन आँखों से उस मूर्ख ने तुझे देखा है, उन आँखों को मैं उसी क्षण निकाल लूँगा ॥१७॥

विविक्तदेशस्थित उज्वलाकृतौ नृपस्य नाट्यालय आह्वयाशु तम्।
त्वदीयरूपेण मया हतं प्रिये! विलोकयैनं खलु तत्र चाचिरम् ॥१८॥

"हे प्रिये! एकान्त स्थान में स्थित राजा की स्वच्छ नाट्यशाला में तुम उसे बुलाओ। तुम्हारे रूप से मैं उसे मारूँगा जिसे तुम शीघ्र ही देखोगी" ॥१८॥

विधाय भीमेन विमर्शमीदृशं रहः कदाचित्तमुवाच कीचकम्।
वृथाग्रहं सन्त्यज राष्ट्रभूषण विनाश एव प्रणयात्फलं मयि ॥१९॥

भीम से इस प्रकार विचार करने के बाद कभी एकान्त में द्रौपदी ने कीचक से कहा—"हे राष्ट्रभूषण! व्यर्थ के इस हठ को तुम छोड़ दो। मुझसे प्रेम करने का फल तुम्हारा विनाश ही होगा ॥१९॥

ममाङ्गसङ्गात्किमु घातयस्यहो प्रियानसून् स्वानविवेकदूषितः।
प्रियैस्तु गन्धर्ववरैरनेकशो विहिंसिताः साहसिनोऽभया नराः ॥२०॥

"मूर्खता के कारण दूषित तुम मेरी संगति से अपने प्रिय प्राणों को क्यों विनष्ट कर रहे हो? मेरे प्रिय गन्धर्वों ने कई बार साहसी एवं निर्भय मनुष्यों को मार डाला है ॥२०॥

रतिस्तु मेऽस्ति त्वयि निर्भरा परं विचिन्त्य तांश्चापि विकम्पते मनः ।
अतोऽवलम्ब्यालमलं च साहसं सुरत्नलोभादिव पन्नगग्रहम् ॥२१॥

"तुम्हारे ऊपर तो मेरा पूर्ण प्रेम है, किन्तु गन्धर्वों के बारे में सोच कर मेरा मन कम्पायमान होता है। अतः अच्छे रत्न के लोभ में साँप पकड़ने की तरह यहाँ साहस करना व्यर्थ है ॥२१॥

कदाचिदेते मयि बद्धसौहृदा विचार्य बाधां मम सङ्गमाद्यदि ।
बलात्करिष्यन्ति विहिंसनं तव कुतो नु लप्से मुखमञ्जुदर्शनम् ॥२२॥

"मेरे ऊपर अत्यन्त प्रेम करने वाले यदि मेरे सङ्गम से बाधा समझेंगे तो वे जबरदस्ती तुम्हारी हत्या कर देंगे। तब तुम्हारा सुन्दर मुख मैं कैसे देखूँगी ? ।२२।

त्वयि स्थितां वा स्फुटमेव मे रतिं निरीक्ष्य नेष्यन्ति निजालयं यदि ।
तथापि ते दुर्लभमेव दर्शनं सदातनं मे भविता विचार्यताम् ॥२३॥

"यह भी सोचो कि यदि तुम्हारे ऊपर मेरा प्रेम देख कर वे मुझे अपना घर ले जायेंगे तो भी तुम्हारा दर्शन मुझे दुर्लभ हो जायगा ॥२३॥

अतो मुधाऽनर्थकरं त्यजाग्रहं यथासुखं संविलसात्मकान्तया ।
पराबलासङ्गमकिल्विषोदधौ न पातयात्मानमलं विचक्षण ! ॥२४॥

"अतः इस अनर्थकारी आग्रह को छोड़ दो और सुख पूर्वक अपनी पत्नी के साथ विलास करो। हे बुद्धिमान् ! पर पत्नी-सङ्गमरूपी पाप के समुद्र में अपने को व्यर्थ नहीं गिराओ ॥२४॥

रतिर्विशुद्धा सकलेषु सर्वदा न गर्हितोक्तास्तु च नौ तथैव सा ।
सुरत्नमस्मिन्नगरे भवानतो सदातनं रक्षणमस्तु निर्भयम् ॥२५॥

"सब पर सदा विशुद्ध प्रेम रखना अच्छा है; वह निन्दित नहीं कहा गया है। हम दोनों में वैसा ही प्रेम हो। तुम इस नगर के उत्तम रत्न हो। अतः तुम्हारी रक्षा सदा आवश्यक है" ॥२५॥

निशम्म गन्धर्वकथां भयप्रदां तदीयरूपं च निरीक्ष्य मोहनम् ।
विरुद्धभूपद्वयशासनं पुरं यथाऽभवत्कीचकचित्तमस्थिरम् ॥२६॥

गन्धर्व की भय देने वाली कथा सुन कर और उसका (द्रौपदी का) मुग्धकारी रूप देख कर कीचक का मन उसी तरह चञ्चल हो गया जिस प्रकार विरोधी दो राजाओं से शासित नगर की दशा होती है ॥२६॥

कदाचिदेतस्य मनो मरुस्थलीं कदाप्यधावद्द्रुतमेव नन्दनम् ।
तरङ्गमालाद्वयकृष्टपङ्कजं यथाऽन्वभूदेकपदे रसद्वयम् ॥२७॥

कभी तो इसका मन मरुभूमि पर दौड़ता था और कभी अति शीघ्र नन्दन वन में चला जाता था। इस प्रकार दो तरङ्गों से खिंचा हुआ पंकज की तरह एक ही पद में वहाँ दो रस (भयानक एवं शृङ्गार) पैदा हो गये ॥२७॥

कदापि वर्षारजनीकृतं तमस्तदीयचेतः प्रसभं रुरोध च ।
कदापि वासन्तिकवासरोज्वलप्रकाशलक्ष्मीर्निरवर्तयत् क्षणम् ॥२८॥

उसके मन में कभी तो वर्षा की रात का अन्धकार छा जाता था और कभी वसन्तकालीन दिन की तरह उज्ज्वल प्रकाश की शोभा छा जाती थी ॥२८॥

भयस्य चेतोजनुषश्च संगरे त्रिलोकजेता विजयी परोऽभवत् ।
ततः स शान्तिं शनकैः समाश्रयन् ससाहसं किञ्चिदियेष भाषितुम् ॥२९॥

भय और काम (मनोज) के संग्राम में तीनों लोकों को जीतने वाला (काम) ही विजयी हुआ। तब धीरे से शान्ति का आश्रय ले साहस के साथ उसने कुछ कहना चाहा ॥२९॥

सुपङ्कजं वीक्ष्य दलद्दलं नरो न कण्टकं कोऽपि समीक्षते कटु ।
विहाय गन्धर्वगतं स कीचको भयं, जगाद द्रुपदात्मजामिति ॥३०॥

कोई भी मनुष्य खिलते हुए कमल की पंखुड़ियों को देख कर उसके कड़ुए कण्टक को कुछ भी नहीं समझता। उसी तरह गन्धर्वों का भय छोड़ कर उस कीचक ने द्रौपदी से यह कहा—॥३०॥

न शङ्कनीयं दयिते ! ततो भयं न कर्तुमेते प्रभवो हि किञ्चन ।
अतो द्रुतं मे शयनालयं व्रज त्वदर्थमेवारचितं स्वयं मया ॥३१॥

"हे दयिते ! उनसे किसी प्रकार के भय की शंका मत करो। वे कुछ भी नहीं करेंगे। अतः शीघ्र मेरे शयनकक्ष में जाओ, जिसे मैंने तुम्हारे लिए ही अलंकृत किया है ॥३१॥

यदीत्थमेवास्तु तथा, परं प्रिय न कस्यचित्स्याद्विदितं हि नाविति ।
रहस्यमस्माद्रहसि स्थिते भवेत्समागमो नाट्यगृहे मनो हरे ॥३२॥

"हे प्रिय ! यदि ऐसा है तो यही हो, किन्तु हमलोगों का यह रहस्य किसी को भी ज्ञात नहीं हो। इसलिए यह रहस्यमय समागम एकान्त में स्थित सुन्दर नृत्यशाला में हो" ॥३२॥

स मन्दधीस्तद्वचनेन कीचकः प्रमोदितः स्वीकृतवान् ससाहसः ।
प्रतीक्षमाणः समयं स्थिरीकृतं क्वचिन्न शान्तिं समवाप कामुकः ॥३३॥

द्रौपदी के इस वचन से प्रसन्न हो कर महामूर्ख कीचक ने साहस के साथ इसे स्वीकार कर लिया। निश्चित किये हुए समय की प्रतीक्षा करता हुआ उस कामी ने कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त की ॥३३॥

इतश्च पाञ्चालसुतापि पाण्डवं द्वितीयमामन्त्रयदागते क्षणे ।
स चापि तद्वेषमवाप्य तत्क्षणं जगाम संकेतनिकेतनं मुदा ॥३४॥

इसके बाद द्रौपदी ने निश्चित क्षण में द्वितीय पाण्डव (भीम) को आमन्त्रित किया और वह भी उसकी वेश-भूषा को प्राप्त कर संकेतित स्थान पर उसी समय पहुँच गया ।।३४।।

स्थितं विविक्ते विविधोपलाञ्चितं सुसंस्तरं तल्पमवेक्ष्य तत्र सः ।
मुखं समावृत्य पटाञ्चलेन च निषण्ण आसीदवलोकयन् खलम् ।।३५।।

अनेक प्रकार के पत्थरों से निर्मित सुन्दर बिछावन से सुसज्जित एकान्त में स्थित पलंग पर कपड़े के आञ्चल से मुख को ढक कर उस दुष्ट को देखता हुआ वह (भीम) बैठा था ।।३५।।

अथाजगामाद्भुतवेषभूषणो मदोद्धतो मन्दमतिः स कीचकः ।
पटावृतं वीक्ष्य वृकोदरं प्रियामवेत्य तत्रोपगतो जहास च ।।३६।।

अहंकार से मत्त एवं विचित्र वेश-भूषा से युक्त बुद्धिहीन कीचक आ गया और वस्त्र से ढके हुए भीम को देख उसे द्रौपदी समझ कर वह उसके समीप गया और हँसा ।।३६।।

यदैव तस्योपरि पाणिमर्पयत्प्रिये ! समुत्तिष्ठ वदन् स कीचकः ।
तदैव भीमः कृतभीमनिःस्वनः पुरो बभूवास्य भयङ्कराकृतिः ।।३७।।

जैसे ही उसने (कीचक ने) 'हे प्रिये ! उठो' कहता हुआ उस पर हाथ रखा कि भयङ्कर शब्द करता हुआ भयानक रूप धारण किया हुआ भीम उसके सामने हो गया ।।३७।।

विहाय बालोचितवेषमद्भुतं बभूव भीमोऽन्वितनामभागसौ ।
अर्धोरुकोद्भासितवीर्यभूषणो विलोकयंस्तंनिकटे स्थितोऽभवत् ।।३८।।

यथार्थ नाम वाला वह भीम युवती के लायक अद्भुत वेश-भूषा को छोड़ कर जांघ से उद्भासित अपना पराक्रमरूपी भूषण दिखलाता हुआ खड़ा हो गया ।।३८।।

विलोक्य तं पूर्वमनल्पसाहसोऽबिभेत्स किञ्चिच्च परं व्यचिन्तयत् ।
भयेन किं साहसतस्करेण कः समोऽस्ति लोके मम सैन्यरक्षितुः ।।३९।।

अत्यन्त साहसी वह कीचक उसे देख कर पहले तो कुछ डरा, किन्तु बाद में उसने सोचा कि साहस को नष्ट करने वाले भय से क्या ? संसार में मेरे समान सेनापति कौन है ? ।।३९।।

कलङ्किनं मां विमले कुले मुधा वपुर्धरं धिक् कुवितर्ककारिणम् ।
शरीरमेतन्न चिराद्भविष्यति किमेतदर्थं नु बिभेमि साम्प्रतम् ।।४०।।

कलंकयुक्त हो कर उत्तम कुल में मेरा जन्म लेना व्यर्थ है और इस प्रकार कुतर्क करने वाला मुझे धिक्कार है । यह शरीर तो स्थायी है नहीं । फिर इसके लिए इस समय मैं क्यों डरूँ ? ।।४०।।

कदर्यमाश्रित्य दधामि चेद्वपु र्न धर्मकार्यार्हमिदं भविष्यति ।
अशस्त्रपूतं यदि वा प्रणङ्क्ष्यति ध्रुवं ततस्तन्निरये पतिष्यति ।।४१।।

यदि मैं कायरतापूर्ण शरीर धारण करूँगा तो वह (शरीर) धर्म-कार्य करने लायक नहीं रहेगा अथवा यदि यह शरीर शस्त्र से बिना पवित्र हुए नष्ट हो गया तो निश्चित ही नरक में गिरेगा ।।४१।।

निजोरुयुग्मे स विधाय ताडनं करद्वयेनाभिदधेऽथ कीचकः ।
स्थितोऽसि किं वीर ! समीक्षयाधुना निजोरुशौर्यञ्चविलोकयाथवा ।।४२।।

अपने दोनों हाथों से जांघों पर ताल ठोंक कर कीचक बोला—"हे वीर ! खड़े क्यों हो ? अपनी जांघों की वीरता दिखलाओ अथवा मेरी जांघों की वीरता देखो" ।।४२।।

प्रगल्भमित्थं वचनं वृकोदरो निशम्य दन्तैरधरं दशन् रुषा ।
निजांगुलीभिः परिपीड्य तत्करद्वयांगुलीराक्षिपदात्मसम्मुखम् ।।४३।।

इस प्रकार के प्रगल्भपूर्ण वचन सुन कर भीम ने क्रोध के कारण अपने होठ को दाँतों से काटता हुआ अपनी अँगुलियों से उसके दोनों हाथों की अँगुलियों को ऐंठ कर उसे अपने सामने खींच लिया ।।४३।।

असावपीत्थं कृतवान् गुरुस्वनस्तयोरभूदङ्गविमर्दनं मिथः ।
अपातयद्भूमितले च कीचकं वृकोदरो वक्षसि तस्य चाक्रमत् ।।४४।।

जोर से गरजता हुआ उसने (कीचक ने) भी वैसा ही किया । दोनों ने एक-दूसरे के शरीर पर प्रहार किया तथा कीचक को पृथ्वी पर पटक कर भीम उसकी छाती पर चढ़ गया ।।४४।।

करेण चैकेन गरं तदीयकमुरस्तथा जानुयुगेन पीडयन् ।
व्यताडयच्चाथ परेण पाणिना मृतानुकल्पं कृतवान्स कीचकम् ।।४५।।

एक हाथ से उसका गला दबा कर, दोनों घुटनों से उसकी छाती पर चढ़ कर दूसरे हाथ से उस पर प्रहार करके भीम ने उस कीचक को मृतप्राय बना दिया ।।४५।।

प्रियापराधप्रतिशोधनं यदा न तावता वेद तदा तदीयकम् ।
अघर्षयद्भूमितले मुखादिकं पदा च कुक्षिं बहुशो व्यताडयत् ।।४६।।

जब तक उसने (भीम ने) अपनी प्रिय पत्नी के साथ किये गये अपराध का पूरा बदला नहीं समझा तब तक पृथ्वी पर उसके (कीचक के) मुख आदि अङ्गों को रगड़ता हुआ अपने पैरों से उसके पेट पर खूब मारा ।।४६।।

गुरुप्रहारेण विधाय तं व्यसुं त्वचं समाकृष्य मुखादिकस्य च ।
चकार मांसस्य च पिण्डवत्ततो यथागतं वीरवरः स निर्ययौ ।।४७।।

भारी मार से उसकी (कीचक की) जान ले कर तथा उसके मुख आदि का चमड़ा खींच कर उसे मांस का लोथड़ा की तरह बना कर भीम जैसे आया था वैसे ही चला गया ।।४७।।

वृकोदरेणाभिहिता निजप्रिया जगाम नाट्यालयमाशु तादृशम् ।
विलोक्य तं हृष्टमना रुदन्त्यलमदर्शयत्प्राहरिकं तथाऽवदत् ।।४८।।

वृकोदर (भीम) के कहने पर उसकी प्रिया (द्रौपदी) शीघ्र नाट्यशाला में गयी और उसे (कीचक को) देख कर अत्यन्त खुश होती हुई तथा व्यर्थ रोती हुई पहरेदारों को दिखला कर बोली—।।४८।।

विलोकयैनं नगरस्य भूषणं नृपप्रियं सैन्यपतिं मनोहरम् ।
मयि स्थगन्धर्ववरैर्विहिंसितं ममानुरागेण बलात्समुद्धतैः ।।४६।।

"नगर के भूषण, राजा के परम प्रिय इस सुन्दर सेनापति को देखो । मुझसे जबरदस्ती प्रेम करने के कारण मेरे साथ रहने वाले गन्धर्वों ने कुपित हो कर इसे मार दिया ।।४९।।

न्यवेदयत्प्रागवनीश्वरं ततः स रक्षकः कीचक बन्धुवर्गकान् ।
अथावदन् कीचकबन्धवो नृपं प्रदेहि नो बन्धुविनाशिनीं स्त्रियन् ।।५०।।

उस रक्षक ने पहले राजा को तथा बाद में उस (कीचक) के परिवार के लोगों को सूचित किया । कीचक के परिवार ने राजा से कहा—"मेरे परिवार को नष्ट करने वाली यह स्त्री हमें दे दें" ।।५०।।

नृपाज्ञया कीचकबन्धवो बलात्सहैव दग्धुं निजबन्धुना नयन् ।
परेतभूमिं द्रुपदात्मजां सतीमथाशृणोत्तच्चरितं वृकोदरः ।।५१।।

राजा की आज्ञा से अपने बन्धु (कीचक) के साथ ही द्रौपदी को श्मशान ले जाते हुए कीचक के परिवार की कथा भीम ने सुनी ।।५१।।

विधाय रूपं स तु भीषणं ततश्चचाल धावन् रभसेन सिंहवत् ।
समुत्पतन् वप्रमपि स्थितां बहिः श्मशानभूमिं समवापदारुणाम् ।।५२।।

वह भीम भी भयानक रूप बना कर बड़े वेग से दौड़ता हुआ बड़े-बड़े गड्ढों को भी लाँघता हुआ सिंह की तरह चला और उस भयानक श्मशान भूमि पर पहुँच गया ।।५२।।

तरुं समुत्पाट्य महान्तमद्भुतं विघूर्णयँस्तेन निपातयन् जनान् ।
भयाद्रदन्तीं द्रुपदात्मजां बलाच्चिताधिरूढां स ददर्श कुर्वतः ।।५३।।

एक विचित्र विशाल वृक्ष को उखाड़ कर उसे घुमाता हुआ तथा उससे लोगों को मार कर गिराता हुआ उस (भीम) ने भय से रोती हुई द्रौपदी को जबरदस्ती चिता पर चढ़ाते हुए लोगों को देखा ।।५३।।

निरीक्ष्य भीमं करवृक्षमागतं विशुष्यदास्याश्चलचित्तवृत्तयः ।
विशालजङ्घोरुबलाः प्रदुद्रुवुर्विहाय पञ्चालनरेन्द्रकन्यकाम् ॥५४॥

हाथ में विशाल वृक्ष लिए हुए भीम को देख कर विशाल जांघों और ऊरुओं में बल वाले मनचलों का मुख सूखने लगा और वे लोग द्रौपदी को छोड़ कर भागे ॥५४॥

विलोकयन्तोऽनु पुरस्तु वेगतोऽव्रजंश्च केचिन्न्यपतँश्च भूतले ।
तथैव वात्यावलयाभिभूतवत्परिभ्रमन्ति स्म च केपि सर्वतः ॥५५॥

पीछे और आगे देखते हुए तथा वेग से भागते हुए लोगों में से कोई तो पृथ्वी पर गिरा और कोई वण्डोवा (चक्रवात) के द्वारा घुमाये गये की तरह चारों ओर घूमने लगा ॥५५॥

पथि स्थितानारुरुहुर्महीरुहाँस्तथा विधातुं न च केचनाशकन् ।
विकम्पिताङ्गास्तरुमूलमाश्रिता निजाङ्गमावृत्य पुरो व्यलोकयन् ॥५६॥

कोई तो राह में स्थित वृक्षों पर चढ़ गया तथा कोई उस पर चढ़ तक नहीं सका और उसके अंग काँपने लगे; वृक्ष की जड़ के निकट अपने अंगों को छिपा कर वह सामने देखने लगा (कि कोई आ तो नहीं रहा है) ॥५६॥

अवाप्य भग्नालयमाविशञ्छनैर्विलिल्युरेके च सरित्तटान्तरे ।
तथापरे निर्विविशुः सुरालयं न केपि धैर्यं समुपागमन् क्वचित् ॥५७॥

कोई तो टूटा-फूटा घर देख कर धीरे से उसमें घुस गया और कोई नदी के किनारे जा कर छिप गया। उसी तरह कुछ लोग देवों के मन्दिरों में घुस गये। कहीं भी किसी को डर के कारण धैर्य नहीं मिला ॥५७॥

कदर्यमालम्ब्य पलायनाक्षमा विचुक्रुशुश्चक्रुरनेकचेष्टितम् ।
पुनः पुनर्भीमदिशं समाव्रजन् क्षमापयन्तः स्वकृतापराधमम् ॥५८॥

कायरता को प्राप्त कर भागने में असमर्थ हो रोने लगे और अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करने लगे तथा बार-बार अपने किये हुए अपराध के लिए क्षमा याचना करते हुए भीम के पास आये ॥५८॥

क्रुधाऽरुणे भीममुखे भयङ्करे वितीर्णदृष्टिः परिशुष्यदाननः ।
शनैस्तु कश्चित्परिसर्पति स्म तत्पुरश्च भीमोप्यगमत्सहुंकृतिः ॥५९॥

क्रोध से लाल एवं भयंकर भीम का मुख देख कर सूखे हुए मुख से कोई धीरे से उसके निकट आया और भीम भी उसके सामने हुंकार करता हुआ पहुँचा ॥५९॥

करद्वयं स्वं निशि कञ्जकुड्मलं विधाय भाले च निधाय कश्चन ।
प्रवेपमानावयवः सगद्गदं जगादभीमङ्घ्रियुगे पतन् मुहुः ॥६०॥

किसी ने अपने दोनों हाथों को रात्रिकालीन कमल की कली की तरह

(संपुटित) बना कर उसे अपने ललाट पर रख कर काँपते हुए शरीर से भीम के पैरों पर गिरते हुए गिड़गिड़ा कर कहा—॥६०॥

क्षमस्व गन्धर्वपतेऽधुना कृतं त्वदाश्रितैतद्वनिताप्रपीडनम् ।
ममापराधं कृपया महाप्रभो ! पुनः कदाचिन्न विधास्यते मया ॥६१॥

"हे गन्धर्वपति ! आप के आश्रित इस वनिता का प्रपीड़न रूप किया हुआ मेरा अपराध इस बार क्षमा करें। फिर मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा ॥६१॥

विधीयते कर्णयुगावलुण्ठनं निधीयते ते पदयोश्च मस्तकम् ।
विरच्यते त्वत्पुरतस्तथाञ्जलि र्न गण्यतां दूषणमद्य यत्कृतम् ॥६२॥

"मैं अपना कान ऐंठता हूँ, आप के पैरों पर सिर रखता हूँ तथा आप के सामने हाथ जोड़ता हूँ। आज के किये हुए मेरे कसूर की गणना नहीं करें ॥६२॥

त्वमेव मातः प्रहरन्तमद्य मां निवारयैनं सहसा त्वदाश्रयम् ।
न हन्यमानं क्षमसे त्वमोक्षितुं भवन्ति नार्योहि दयालुचेतसः ॥६३॥

(द्रौपदी की ओर देख कर कहा--) "हे माता ! आप के आश्रित मुझ पर सहसा प्रहार करते हुए इन्हें रोकें। मुझे मारे जाते हुए आप नहीं देख सकतीं क्योंकि स्त्रियां दयालुचित्त वाली होती हैं" ॥६३॥

तथा कृते चापि न रक्षणं ययुर्विनाशिताः कीचकवन्धवोऽखिलाः ।
क्रुधारुणाक्षेण वृकोदरेण ते विमार्गमानेन समन्ततस्तदा ॥६४॥

ऐसा करने पर भी रक्षा नहीं हुई और क्रोध से लाल आँखों वाले भीम के द्वारा सर्वत्र खोज-खोज कर कीचक के समस्त परिवार विनष्ट किये गये ॥६४॥

इति सकलरिपून् संशोध्य ताँश्चूर्णयित्वा
नवरुधिरविलिप्तात्यन्तदीर्घाङ्गयष्टिः ।
ज्वलदलघुचिताकाष्ठं दधानः स भीमो
न्यववृदभयचेताः स्वाश्रयं तत्प्रदेशात् ॥६५॥

इस प्रकार नया लहू से लिप्त अत्यन्त दीर्घकाय भीम ने सभी शत्रुओं को चूर कर उनसे बदला ले लिया और जलता हुआ बड़ा-सा चिताकाष्ठ ले कर निर्भय हो कर दहाड़ता हुआ उस स्थान को छोड़ कर वह अपने स्थान पर चला गया।६५।

इति कीचकवधः ॥

वैतालीयम्

अशोकवर्तिनी सीता

समयं बहुमेव जानकी रघुनाथार्पितमानसा सती ।
कथमप्यवलोकनाशया विपिनेऽशोकमयेशुचानयत् ॥१॥

रघुनाथ जी में मन लगायी हुई सती जानकी ने उनके दर्शन की आशा में किसी प्रकार अशोकमय वन में शोक से बहुत समय बिताया ॥१॥

न ददर्श यदा प्रतिक्रियां निजमोक्षस्य कथञ्चिदेव सा ।
न च वाचिकमप्यवाप यद्दयितस्याकुलमानसाऽभवत् ॥२॥

जब सीता ने अपनी मुक्ति का कोई उपाय नहीं देखा और प्रिय पति का संदेश भी प्राप्त नहीं किया तब उनका मन व्याकुल हो गया ॥२॥

अथ मार्गयितुं गतैव सा रघुनाथं नु तदीयधीरता ।
कुणपाधिपदुर्गतो नु वा न समायाद्रजनीचरीभयात् ॥३॥

क्या उस जानकी का धैर्य रघुनाथ जी की खोज में चला गया ? अथवा राक्षसराज रावण के दुर्ग से वापस नहीं आया क्या ? ॥३॥

सहजामवलोक्य धीरतामसहायाऽथ च कुत्रचिद्गताम् ।
निजवल्लभचिन्तने स्थिताऽपि च शान्तिं न जगाम जानकी ॥४॥

जानकी की स्वाभाविक धीरता न जाने कहाँ चली गयी ? यह देख असहाय हो कर अपने पति के चिन्तन में ही लगी हुई भी वह शान्ति नहीं पा सकी ॥४॥

निजभर्तृकुलाद्यपूरुषप्रखरांशोर्नु कराभिरक्षिता ।
कथमप्यनयद्दिवा परं रजनीं नो रजनीचरीवृता ॥५॥

अपने पतिकुल के आदि पुरुष सूर्य के प्रखर किरणों से रक्षित हो कर किसी-किसी प्रकार उसने दिन तो बिताया, किन्तु निशाचरियों से घिरी हुई वह रात नहीं बिता सकी ॥५॥

निजकान्तमुखानुकारिणं रजनीनायकमुद्गतंनिशि ।
अवलोक्य तपत्तनुः सती स्रवदश्रुर्निजगाद जानकी ॥६॥

अपने पति के मुख को अनुकरण करने वाले चन्द्रमा को उगा हुआ देख कर सन्तप्त होती हुई आँखों में आँसू भर कर वह बोली—॥६॥

मम भर्तृपुराणपूरुषै रचितात्सागरतो निशापते !
जनुरापिथ किं वधूं निजां व्यथयस्यात्मकरैः पराश्रयाम् ॥७॥

"हे निशापते (चन्द्रमा) ! आप का जन्म मेरे पति के पूर्व पुरुषों द्वारा निर्मित सागर से हुआ है। आप दूसरे के अधीन पड़ी हुई अपनी पतोहू को अपने किरणों से क्यों कष्ट देते हैं ? ॥७॥

भरतोऽस्ति गुणाकरः प्रियो रघुनाथो न पतिस्तु मे तव ।
अथवा विमुखे विधौ ध्रुवं भवति स्वः पर एव सर्वथा ॥८॥

"अत्यन्त गुणवान् भरत आप के प्रिय हैं। किन्तु मेरे पति आपके प्रिय नहीं हैं ? अथवा भाग्य के विमुख होने पर अपना भी सब तरह से निश्चय ही पराया हो जाता है ॥८॥

अभवं यदि शैशवे पुरा ग्रहिला खिन्नमनाः कदाचन ।
ननु चन्द्र ! तदा त्वमेव मामकरोर्हर्षितमानसां हताम् ॥९॥

"हे चन्द्र ! यदि पहले बचपन में हठी और उदास हो जाती थी तो आप ने ही मुझे हर्षित किया था, किन्तु आज पीड़ित कर रहे हैं ॥९॥

बहुशो मुकुरे समागतस्त्वमभूः क्रीडनकं पुरा मम ।
क्व गतः प्रणयो मयि स्थितः प्रतपस्यद्य यतोतिनिर्घृणः ॥१०॥

"कई वार आईने में आये हुए आप मेरा खिलौना बने । मेरे ऊपर आप का जो प्रेम था वह कहाँ गया ? क्योंकि आज निर्दयी हो कर मुझे सन्तप्त कर रहे हैं।१०।

मुकुरे समुपागतं विधो ! यदहं त्वां पुटकस्थितं व्यधाम् ।
किमु तन्मम दूषणं सकृत् स्मरसि त्वं, विहितं नु शैशवे ॥११॥

"हे चन्द्रमा ! आईने में आये हुए आप को मैंने पुटक (पौती) में रख दिया था । क्या बचपन में किये हुए मेरे एक अपराध को आप याद कर रहे हैं ? ॥११॥

अथवा तव चन्द्रिकां प्रियां भवनं मे समुपागतां शुभाम् ।
रजनीश्वर यद्व्यधां पुरा विमलादर्शकपाट संयताम् ॥१२॥

"हे रजनीश्वर (चन्द्रमा) ! मेरे घर में आप की प्रिय एवं सुन्दर चन्द्रिका (चान्दनी) के आने पर मैंने अपने स्वच्छ आईने के कपाट को बन्द कर दिया था । (क्या उसे ही आप स्मरण कर रहे हैं ?) ॥१२॥

तव चन्द्र ! कदाचन व्यधां कुमुदिन्या विरहं नु दुःसहम् ।
उत ! पञ्जरसंयतं खगं सुहृदं तेऽपि चकोरनामकम् ॥१३॥

"हे चन्द्र ! क्या मैंने कभी आप की कुमुदिनी के साथ आप का दुःसह्य वियोग भी करा दिया ? अथवा आप के मित्र चकोर पक्षी को भी पिंजड़े में बन्द कर दिया था क्या ? ॥१३॥

सततं निशि दृश्यते चरन् स्फुटमागात्त्वयि चन्द्र तद्गुणः ।
व्यथयस्यत एव मादृशीमबलां कान्तवियोगकर्षिताम् ॥१४॥

"हे चन्द्र ! आप सदा रात्रि में चलते हुए देखे जाते हैं । आप में निशाचर का गुण स्पष्ट ही आ गया है । इसीलिए तो कान्त-वियोग से ग्रसित अबला को आप पीड़ित करते हैं ॥१४॥

तव शक्तिरियं नु कीदृशी विपिनं पत्रमयं तु रक्षसि ।
कठिनावयवां दहस्यलं ननु मां चन्द्र ! यया विचित्रया ॥१५॥

"हे चन्द्र ! आप में कैसी विचित्र शक्ति है ? कोमल पत्तों से भरे विपिन की तो रक्षा करते हैं और कठिन अवयव (शरीर) वाली मुझे जलाते हैं ॥१५॥

कमलानि ममाङ्गकान्यसौ यदवोचद्दयितोऽसकृत्पुरा ।
प्रणयः स तु तस्य तादृशो न यथार्थमिवगच्छ मां तथा ॥१६॥

"पहले मेरे प्रिय (रामजी) ने मेरे अङ्गों को अनेक बार कमल कहा था। उनका तो वैसा प्रेम ही था, किन्तु आप वास्तव में वैसा नहीं समझें ॥१६॥

अवलां रजनीचराज्ञया प्रियमिच्छन् सकलङ्क ! तस्य वा ।
प्रदहस्यमृतस्य नोचितं तव कर्मेति शठानुरञ्जने ॥१७॥

"हे कलङ्की (चन्द्र) ! निशाचरों की आज्ञा से आप उन्हीं का प्रिय चाहते हैं और मुझ अबला को जलाते हैं। दुष्टों के अनुरंजन के लिए आप जैसे अमृत-स्वरूप का यह काम नहीं है ॥१७॥

अथवा विदधासि किं विधो ! प्रसभं तस्य वशं गतोऽधुना ।
अनुरञ्जनमस्य सर्वदा ह्युचितं ते सकलङ्क ! सर्वथा ॥१८॥

"अथवा हे चन्द्र ! बलात् उनके वश में जाने के कारण आज सदा उनका अनुरंजन करते हैं। हे कलंकी ! आप के लिए तो यह सर्वथा उचित ही है ॥१८॥

विधुपत्नि ! कुमुद्वति ! त्वया विधुरां मामवलोक्य हस्यते ।
न कुहूः परिचिन्त्यतेऽथवास्त्यभिधानं विदितं तवेदृशम् ॥१९॥

"हे चन्द्र-पत्नी ! हे कुमुदवती ! मुझे विरहिणी देख कर तुम हँसती हो ? अमावस्या का स्मरण नहीं करती हो अथवा तुम्हारा नाम (कु + मुदवती = कुत्सित मुद या हर्ष युक्त) वैसे ही विख्यात है ॥१९॥

सहजा तव पद्मिनीह मामवलोक्यातिविषण्णमानसाम् ।
मुकुलीभवतीति न त्वया कुमुदिन्यद्य निरीक्ष्यतेऽभया ॥२०॥

"तुम्हारे साथ जन्म लेनेवाली पद्मिनी मुझे विषादयुक्त देख कर मुकुलित हो जाती है। हे कुमुदिनी ! क्या तुम उसे आज निर्भीक नहीं देखती हो ? ॥२०॥

अथवास्ति सतीशिरोमणिः पतिमस्तङ्गतमाकलय्य सा ।
विदधाति नु योगसाधनं धरते मौनमतो व्रतं दृढम् ॥२१॥

"अथवा वह (पद्मिनी) सतीशिरोमणि है और पति को अस्तंगत देख कर योग-साधना करती हुई मालूम पड़ती है। इसीलिए उसने मौनव्रत धारण कर लिया है।२१।

गतवत्यपि वा क्षयं विधौ निजकान्ते तव वीक्ष्य तादृशम् ।
सुविकासमलिप्रतोषणं स्वसुरत्यन्तविषादमागता ॥२२॥

"अथवा तुझे (अपनी बहन को) विकसित होना, भौंरों को सन्तुष्ट करना एवं अपने पति चन्द्रमा के क्षय होने पर इस प्रकार देख कर अत्यन्त विषादयुक्त हो गयी है ॥२२॥

अथवा ममभर्तृवंशभूरविकान्ता नलिनी ममेदृशीम् ।
अवलोक्य सती दशामिमां नितरां सीदति मुद्रिता निशि ॥२३॥

"अथवा मेरे स्वामी के वंश के आदिकारण सूर्य के परम प्रिय नलिनी (कमलिनी) मेरी ऐसी दशा देख कर रात में बन्द हो कर अत्यन्त दुःखी होती है ॥२३॥

ननु जाति ! सुजातितां गता दशया त्वं परिखिद्यसे न मे ।
विकसस्यथवा पराश्रया शरदेषा प्रतियोधयत्यलम् ॥२४॥

"हे मालती ! अच्छी जाति को प्राप्त की हुई भी तुम मेरी दीन दशा से खिन्न नहीं होती हो ? अथवा यह शरद् ऋतु ही दूसरे का आश्रय ले कर युद्ध करवाती है ।२४॥

विकसन्नवपुष्पमञ्जुले ! ननु शेफालि ! न मामिहागताम् ।
परिचेष्यसि किन्नु नैकशो मम वासः सखि ! प्रागरञ्जयः ॥२५॥

"खिले हुए नये पुष्प से भरी हुई हे शेफाली ! यहाँ आयी हुई मुझे तुम नहीं पहचानोगी क्या ? हे सखि ! पहले तू ने अनेक बार मेरे वस्त्र को रंगा है ॥२५॥

विषमच्छद ! किं ममासुभिर्ग्लपितैः क्रीडसि गुच्छकैर्निजैः ।
दयसेऽदय ! किं न साम्प्रतम् पयसा प्राग्विपिनेऽसि वर्द्धितः ॥२६॥

"हे छतौन (एक प्रकार का पुष्प) ! अपने गुच्छों के द्वारा मेरे खिन्न प्राणों से क्यों खेलते हो ? हे निष्ठुर ! इस समय मुझ पर तुम दया क्यों नहीं करते ? पहले तुम भी जंगल में पानी से ही बढ़े हो ॥२६॥

ननुवृक्ष ! मुने ! न ते दयाऽभ्युदयं याति मनाङ् मनस्यहो ।
त्वमपि स्फुटमेव दृश्यसे सविकासोऽसि पुनर्जडोऽबुध ! ॥२७॥

"हे वृक्ष मुने (अगस्त वृक्ष) ! तुम्हारे मन में जरा भी दया नहीं है । तुम तो साफ विकसित दीख रहे हो । फिर भी तो तुम जड़ एवं अज्ञानी ठहरे ॥२७॥

परितो विकसत्सुकाशभाग्घरितो मामवलोक्य दुःखिताम् ।
विहसन्ति नु हाऽधुनाविधे ! विदधे किम्विधमद्यकम्विधिम् ॥२८॥

"मालूम पड़ता है कि विकसित काशयुक्त दिशाएँ मुझे दुःखी देख कर हँस रही हैं । हा दैव ! मैं आज कौन-सा उपाय करूँ ? ॥२८॥

शरणं तव मूलमाश्रिता विकलाऽशोक ! विधेहि मां तथा ।
न निशाचरपालनोद्भवं गुणमाधेहि कथञ्चनात्मनि ॥२९॥

"हे अशोक ! मैंने व्याकुल हो कर तुम्हारी जड़ में शरण ली है । तुम मुझे वैसा (अशोक) ही बना दो । निशाचरों से पालित होने के कारण अपने में तुम तनिक भी उनके गुण मत लाओ" ॥२९॥

इति वीक्ष्य तदा नु मैथिलीं विलपन्तीमखिलालताऽबलाः ।
हिमशीकरवर्षणच्छलाद्विलपन्त्यो नितरां विलोकिताः ॥३०॥

समस्त अबला लताएँ मैथिली को विलाप करती हुई देख कर शीत-बिन्दु की वर्षा के ब्याज से लगातार विलाप करती हुई देखी गयीं ॥३०॥

बिभिते स्म विडालतोऽपिया शयिता हर्म्यतले सचेटिका ।
अधुना विपिने स्थिता सती सहते राक्षसिकाविभीषिकाम् ॥३१॥

जो सीता दासियों के संरक्षण में महल में सोयी रहने पर बिल्ला से भी डरती थी, वही आज जंगल में रह कर राक्षसियों के डर को सहन करती है ॥३१॥

गहनं विपिनं पुराऽभवद्रघुनाथेन समं मनोरमम् ।
अधुना विपरीतमेव तत् सकलं तेन विना तु यत्कृते ॥३२॥

रघुनाथजी के साथ रहने पर जिसके लिए पहले घोर जंगल मनोरंजक था, वही आज उनके बिना सब उल्टा हो गया है ॥३२॥

कुशकण्टकपूरिते वने व्रजताग्रे रघुनायकेन या ।
कथिता दयितेन मत्पदे पदमाधेहि, नपृच्छ्यतेऽपिसा ॥३३॥

कुश-काँटों से भरे जंगल में आगे चलते हुए रामजी ने जिन्हें कहा था कि मेरे पैर के चिह्न पर ही तुम पैर रखो, उसे तो अब कोई पूछता ही नहीं ॥३३॥

अविशद्यदि तत्पदे लतामृदुतन्तुः कथमप्यसौ द्रुतम् ।
निरवास्यत राघवेण तद्हृदये वागिषवोविशन्ति हा ॥३४॥

यदि उनके (सीताजी के) पैर में लता की कोमल डोरी लग जाती थी तो रामचन्द्रजी जल्दी से उसे हटा देते थे। हाय! आज उनके (रामजी के) वचन सीताजी के हृदय में बाण की तरह चुभ रहे हैं ॥३४॥

सुमनोरससौरभेण या मुदिताऽभूत्सततं निजालये ।
अधुनापिशितेन पूतिनोद्विजते मद्यजगन्धतोऽपि वा ॥३५॥

जो सीता अपने घर में फूलों के रस की सुगन्धि से सदा प्रसन्न होती थी वही इस समय मांस और मद्य की दुर्गन्धि से व्याकुल हो रही हैं ॥३५॥

न पुरा ददृशे यया मनागपि घातो मृगपक्षिणोरपि ।
मनुजा धृत ब्रह्मसूत्रका निहता दृष्टिपथे कृतास्तया ॥३६॥

जिस जानकी ने पहले पशु-पक्षियों तक की भी हत्या नहीं देखी थी उसी जानकी की आँखों के सामने आज ब्रह्मसूत्र धारण किये हुए मनुष्यों की हत्या हो रही है ।३६।

अनुभूयनिशाचरीकृतां दुरवस्थां हृदयेन पीडिता ।
कथयेदपि कं निजव्यथां नहि तस्याः स्वजनस्तु कश्चन ॥३७॥

राक्षसियों द्वारा की गयी दुर्व्यवस्था को देख हृदय से पीड़ा का अनुभव कर भी वह अपनी व्यथा किससे कहें ? यहाँ पर उनका अपना तो कोई है नहीं ॥३७।

कथनेन विभज्यते व्यथाऽकथनेनापि च पच्यते हृदि ।
यदभूद्धृदयं तदीयकं भृशमेवाकथयद्विचेतना ॥३८॥

पीड़ा कहने से बँट जाती है और नहीं कहने से भी हृदय में ही पच जाती है। उनका हृदय तो चेतनाशून्य हो गया था ॥३८॥

प्रभुणा प्रहितः कपीश्वरो रघुनाथेन वपुर्दधल्लघु ।
अवलोक्य च जानकीं तदा मनसानम्यतिरोऽभवत्तरौ ॥३९॥

स्वामी रघुनाथ जी द्वारा भेजे गये हनुमान जी छोटा शरीर धारण कर जानकी जी को देख कर तथा मन ही मन उन्हें प्रणाम कर वृक्ष पर छिप गये ।३९।

अथ रावण आगमन्महासितिभूभृद्वपुरावृतो निजैः ।
शितशस्त्रधरैश्चरैर्भुजैररुणाक्षः प्रलयाब्दनिस्वनः ॥४०॥

इसके बाद विशाल काले पत्थर के पहाड़-सा शरीर वाला, तेज शस्त्रों को धारण किये हुए अपने सेवकों से घिरा हुआ और अपने बाहुओं से घिरा हुआ, लाल-लाल आँखों वाला तथा प्रलयकालीन मेघ-सा बोलने वाला रावण आ गया ॥४०॥

अवलोक्य समागतं प्रभुं सकलास्तत्र निशाचराङ्गनाः ।
जय रावण राक्षसाधिपेत्यवदन्नुच्चतरं समुद्यताः ॥४१॥

अपने मालिक को वहाँ आये हुए देख कर सभी निशाचरियाँ खूब जोर-जोर से ऐसा बोलने लगीं—"रावण की जय ! राक्षसाधिप की जय !" ॥४१॥

अवधेशवधूरितिस्वनं सहसाकर्ण्य न वीक्ष्य रक्षकम् ।
अवलम्ब्य च धीरतां स्थिता हृदि चाधाय हरिं नतानना ॥४२॥

अवध के राजा की वधू इन शब्दों को अचानक सुन कर और किसी भी रक्षक को नहीं देख कर, मुख नीचे करके हृदय में रामजी को ध्यान करती हुई, धैर्य धारण कर स्थिर हो गयी ॥४२॥

निजगाद निशाचराधिपः किमु कान्ते ! ऽसि नताननाधुना ।
अवलोकय कञ्जवीक्षणे ! कृपया मां चरणान्तिकागतम् ॥४३॥

राक्षसराज ने कहा—"हे कान्ते ! इस समय मुख नीचा क्यों कर रखी हो ? हे कमलनयनी ! तुम्हारे चरणों के निकट आया हुआ मुझे देखो ॥४३॥

ननु भामिनि ! भिक्षते स्वयं जगतामेष पतिस्तु रावणः ।
भवतीं प्रणयं दयावतीं तदरं पूरय तं मनोरथम् ॥४४॥

"हे प्रिये ! संसार का मालिक रावण स्वयं तुम दयावती से भीख माँग रहा है। मेरे मनोरथ को तुम पूर्ण करो ॥४४॥

कमपि स्फुटमेव दुर्गुणं तव कान्तस्य विलोक्य तत्पिता ।
विपिने निरवासयद्द्रुतं किमु तस्मिन्ननुरज्यसेऽबुधे ॥४५॥

ी से उन्हें जंगल में

ि।

६॥

म प्रेम

है।

नायली।

कातासोत्तव वीरता तदा ॥४८॥

ननु पर्वणि कोमलायतामि खूब सोच कर कहा—"रे नीच !

ी ने कहा—"अभी इसे मैं खाती तुम्हारी वीरता कहाँ चली गयी

थी जिस समय भोजन) होगी" तथा कोई अन्य यह कहा।

मुलायम (कोमल) लगेगी" उस (सीता) त्वाह्य दुर्मते !

इति भीषयितुं परायणास्त्विज प्रजल्पसि ॥४९॥

अवलोक्य ततो न्यवारयन्निजनाशं हटा कर, नीति-रहित तुम

इस प्रकार डराने में लगी हुई निशारियों को कहते हो ? ॥४९॥

निशाचरी ने यह कह कर उन लोगों को वैसा कादर्दुर !।

तुम्हारा ही नाश होगा ॥६५॥ लि: ॥५०॥

अविसह्य निशाचरीकृतं विविधोपद्रवमाशु जो चाहता ?

परितोऽपगतासु तास्वसूनथ सोत्स्रष्टुमियेष दुःखिता

चारों ओर से निशाचरियों के भाग जाने पर तथा उनके द्वारा किये प्रकार के असह्य अत्याचारों से दुःखी हो कर जानकी ने आत्म-हत्या करनी चाही ॥६६॥

विटपे निजलम्बकेशतोऽरचयद्बन्धनमात्मघातनम् ।

श्रुतवत्यथ तत्क्षणं निजप्रियवार्तामुपवर्णितां शनैः ॥६७॥

आत्म-हत्या करने के लिए उन्होंने एक वृक्ष पर अपने लम्बे केशों से फाँसी लगाने का बन्धन बनाया। इसके बाद तत्काल ही धीरे से कहा हुआ अपने प्रिय पति का सन्देश उसने सुना ॥६७॥

कथनेन विभज्यते व्यथाऽकथनेनापि च पच्यते हृदि ।
यदभूद्धृदयं तदीयकं भृशमेवाकथयद्विचेतना ॥३८॥

पीड़ा कहने से बँट जाती है और नहीं कहने से भी हृदय में ही पच जाती है। उनका हृदय तो चेतनाशून्य हो गया था ॥३८॥

प्रभुणा प्रहितः कपीश्वरो रघुनाथेन वपुर्दधल्लघु ।
अवलोक्य च जानकीं तदा मनसानम्यतिरोऽभवत्तरौ ॥३९॥

स्वामी रघुनाथ जी द्वारा भेजे गये हनुमान जी छोटा शरीर धारण कर जानकी जी को देख कर तथा मन ही मन उन्हें प्रणाम कर वृक्ष पर छिप गये ।३९।

अथ रावण आगमन्महासितिभूभृद्वपुरावृतो निजैः ।
शितशस्त्रभरैश्चरैर्भुजैररुणाक्षः प्रलयाब्दनिस्वनः ॥४०॥

इसके बाद विशाल काले पत्थर के पहाड़-सा शरीर वाला, तेज शस्त्रों को धारण किये हुए अपने सेवकों से घिरा हुआ और अपने बाहुओं से घिरा हुआ, लाल-लाल आँखों वाला तथा प्रलयकालीन मेघ-सा बोलने वाला रावण आ गया ॥४०॥

अवलोक्य समागतं प्रभुं सकलास्तत्र निशाचराङ्गनाः ।
जय रावण राक्षसाधिपेत्यवदन्नुच्चतरं समुद्यताः ॥४१॥

अपने मालिक को वहाँ आये हुए देख कर सभी निशाचरियाँ खूब जोर-जोर से ऐसा बोलने लगीं—"रावण की जय ! राक्षसाधिप की जय !" ॥४१॥

अवधेशवधूरितिस्वनं सहसाकर्ण्य न वीक्ष्य रक्षकम् ।
अवलम्ब्य च धीरतां स्थिता हृदि चाधाय हरिं नतानना ॥४२॥

अवध के राजा की वधू इन शब्दों को अचानक सुन कर और किसी भी रक्षक को नहीं देख कर, मुख नीचे करके हृदय में रामजी को ध्यान करती हुई, धैर्य धारण कर स्थिर हो गयी ॥४२॥

निजगाद निशाचराधिपः किमु कान्ते ! ऽसि नताननाधुना ।
अवलोकय कञ्जवीक्षणे ! कृपया मां चरणान्तिकागतम् ॥४३॥

राक्षसराज ने कहा—"हे कान्ते ! इस समय मुख नीचा क्यों कर रखी हो ? हे कमलनयनी ! तुम्हारे चरणों के निकट आया हुआ मुझे देखो ॥४३॥

ननु भामिनि ! भिक्षते स्वयं जगतामेष पतिस्तु रावणः ।
भवतीं प्रणयं दयावतीं तदरं पूरय तं मनोरथम् ॥४४॥

"हे प्रिये ! संसार का मालिक रावण स्वयं तुम दयावती से भीख माँग र मेरे मनोरथ को तुम पूर्ण करो ॥४४॥

कमपि स्फुटमेव दुर्गुणं तव कान्तस्य विलोक्य तत्पिता ।
विपिने निरवासयद्द्रुतं किमु तस्मिन्ननुरज्यसेऽबुधे ॥४५।'

"तुम्हारे पति में उनके पिता ने कुछ दुर्गुण देख कर ही जल्दी से उन्हें जंगल में भगा दिया। हे अज्ञानी ! उससे तुम क्यों प्रेम करती हो ? ॥४५॥

जननी न पिता न चानुजो न च काचित्प्रकृतिर्यमिच्छति ।
सह तेन मुधाऽनुरागिणी विफलं त्वं कुरुषे स्वयौवनम् ॥४६॥

"जिसे माता, पिता, भाई, प्रजा कोई भी नहीं चाहता है, उसके साथ तुम प्रेम करती हो और अपनी जवानी को व्यर्थ कर रही हो ? ॥४६॥

भुवनत्रयराज्यमद्य ते चरणे वासु ! समर्प्य रावणः ।
इममन्तिममेव या [illegible] याचं चिन्तय चेतसाऽधुना ॥४७॥

"हे अत्यन्त सुन्दरी ! रा[illegible] चरणों में तीनों लोक का राज्य रख कर प्रेम की अन्तिम भिक्षा माँ[illegible] तुम स्वयं अपने मन में सोचो" ॥४७॥

द्रुतमेव तृ[illegible] चिन्त्याभिदधेऽथ मैथिली ।
ननु पाम[illegible] तासीत्तव वीरता तदा ॥४८॥

घास को आगे रख[illegible] ने खूब सोच कर कहा—"रे नीच ! तुम अपनी तारीफ क्या क[illegible] समय तुम्हारी वीरता कहाँ चली गयी थी जिस समय तुमने मुझे चुरा[illegible] या ? ॥४८॥

कपटं प्रकटय्य यत्पुरा रघुनाथावपवाह्य दुर्मते !
इह मामनयोऽनयोऽधुना जगतामीश्वरतां प्रजल्पसि ॥४९॥

"रे मूर्ख ! पहले कपट करके, दोनों रघुनाथों को दूर हटा कर, नीति-रहित तुम मुझे यहाँ ले आया और आज अपने को संसार का मालिक कहते हो ? ॥४९॥

न तमिच्छति यस्तु कश्चनेत्यवगच्छेः किमु कूपदर्दुर ! ।
यदि वाञ्छसि शं निजं तदा पत तत्पादयुगे कृताञ्जलिः ॥५०॥

"ऐ कूपमण्डूक ! यह तुमने कैसे जान लिया कि उन्हें कोई भी नहीं चाहता ? यदि अपना कल्याण चाहते हो तो हाथ जोड़ कर उनके पैरों पर गिरो ॥५०॥

सुगुणोऽप्यथ दुर्गुणोऽपि वा रघुनाथोऽस्ति स इत्यलं कथा ।
गुणहीनहृदां कथं पतेत्प्रतिबिम्बं हृदये गुणस्य यत् ॥५१॥

"यह कहना व्यर्थ है कि रघुनाथजी गुणवान् हैं अथवा निर्गुण हैं। गुणहीन हृदयवालों के हृदय में गुण का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? ॥५१॥

भुवनत्रयराज्यजं मदं किमु धत्सेऽबुध ! रावणात्मनि ।
भुवनत्रयकारकः सतीचरणाब्जेऽर्पयते स्वमस्तकम् ॥५२॥

"ऐ मूर्ख रावण ! तीनों भुवन के राज्य का घमण्ड क्यों अपने में धारण करते हो ? तीनों भुवन के बनाने वाले पतिव्रता के चरणों में अपना मस्तक रख देते हैं ।५२।

भुवनं यदि वर्तते सदा न हि तत्कारणमस्ति तत्पतिः ।
ध्रुवमेव पतिव्रताव्रतं, किमु तद्वेत्ति हि पुंश्चलीपतिः ॥५३॥

"यदि तीनों भुवन सदा रहने वाला हो, तो उसका कारण किसी भी स्त्री का पति नहीं है। तीनों भुवन के सदा स्थिर रहने का कारण निश्चय ही पतिव्रता का व्रत ही है। कुलटा का पति यह क्या जाने ? ॥५३॥

भुवनत्रितयं विनश्यति क्षणमात्रेण सतीप्रकोपतः ।
अपरं सकलोपरि स्थितं भुवनं रच्य[...] एव तत्कृते ॥५४॥

"सती के कोप से क्षण मात्र में ही तीनों भुव[...]ट हो जाते हैं और उसके लिए सभी लोकों के ऊपर रहने वाला अन्य भुवन रच[...] है ॥५४॥

प्रणयो मम वर्ततां सदा रघुनाथ[...]तिनिर्भरः ।
द्रुतमेत्य स विश्वनायको विनिह[...] रक्षतु ॥५५॥

"मेरा अत्यन्त निर्भर (दृढ़) प्रेम रघुना[...] में सदा रहे। वह संसार के नायक (नेता) रामजी शत्रु की [...] रक्षा करें" ॥५५॥

गदितां रघुनाथभार्यया [...] ।
चरणाहतपन्नगो यथा [...]६॥

रामजी की धर्म-पत्नी से ऐसा—[...] वह पैर से कुचले गये सांप की तरह विष और [...]॥

तव नृत्यति मस्तकेऽ[...]
न हि वेत्सि यदेष[...]

"इस समय तुम्हारे सिर प[...]
सब लोगों को रुलाने वाला [...]

यदि मा[...]
अ[...]

"हे ह[...]
इस त[...]

कर मैथिली जानकी [...] उसे [...] ? हो रहे हैं

अनुभूयनिशाचरीकृतां दुरवस्थां हृदयेन [...]
कथयेदपि कं निजव्यथां नहि तस्याः स्वजन [...]

राक्षसियों द्वारा की गयी दुर्व्यवस्था को देख हृदय से [...] वह अपनी व्यथा किससे कहें ? यहाँ पर उनका अपना [...] कहे ॥३२॥

न पुरा ददृशे यया मनागपि घातो मृगपक्षिणोरपि ।
मनुजा धृत ब्रह्मसूत्रका निहता दृष्टिपथे कृतास्तया ॥३२॥

जिस जानकी ने पहले पशु-पक्षियों तक की भी हत्या नहीं देखी थी, इस समय उन्होंने आँखों के सामने आज ब्रह्मसूत्र धारण किये हुए मनुष्यों की हत्या देखी है ॥३२॥

सुमनोरससौरभेण या मुदिताऽभूत्सततं निजालये ।
अधुनापिशितेन पूतिनोद्विजते मद्यजगन्धतोऽपि वा ॥३५॥

जो सीता अपने घर में फूलों के रस की सुगन्धि से सदा प्रसन्न होती थी वही इस समय मांस और मद्य की दुर्गन्धि से व्याकुल हो रही हैं ॥३५॥

यदि तत्पदे लतामृदुतन्तुः कथमप्यसौ द्रुतम् ।
निरवास्यत राघवेण तद्हृदये वागिषवोविशन्ति हा ॥३४॥

यदि उनके (सीताजी के) पैर में लता की कोमल डोरी लग जाती थी तो रामचन्द्रजी जल्दी से उसे हटा देते थे। हाय ! आज उनके (रामजी के) वचन सीताजी के हृदय में बाण की तरह चुभ रहे हैं ॥३४॥

अविशद्यदि तत्पदे लतामृदुतन्तुः कथमप्यसौ द्रुतम् ।

[...] रखी, उसे तो अब कोई पूछता ही नहीं ॥३३॥
[...]ऽप्सा ॥३३॥ [...] रामजी ने जिन्हें कहा था कि मेरी

अथ तत्सहधर्मचारिणी बहु सम्बोध्य नयंनिजं पतिम् ।
अबलावधपातकात्तदाशु विरम्यानयदालयं सती ।।६१।।

उसकी पतिव्रता धर्मचारिणी पत्नी ने बहुत तरह की नीति समझा कर, स्त्री-वध के पातक से रोक कर उसे घर ले गयी ।।६१।।

अथ वीक्ष्य निशाचराङ्गना अतिचिन्ताकुलमानसां सतीम् ।
रजनीचररावणाज्ञया भृशमुद्वेजयितुं समुद्यताः ।।६२।।

निशाचरियाँ सती (जानकी) को अत्यन्त चिन्ता से व्याकुल मन देख कर राक्षस रावण की आज्ञा से उसे पुनः पीड़ित करने को उद्यत हो गयीं ।।६२।।

विकटास्यरदाक्षिनासिकाः प्रविततयात्मकरद्वयांगुलीः ।
विकृतस्वरमुन्नदन्त्यथो परिधावन्त्यभितः स्म मैथिलीम् ।।६३।।

भयानक मुख, दाँत, आँख और नाक वाली राक्षसियों ने अपने हाथों की अँगुलियों को तान कर भयंकर आवाज करती हुई चारों ओर से जानकी जी को घेर लिया ।६३।

अधुनाद्मि च कापि कापि च भवितेयं लघुभोजनं मम ।
ननु पर्वणि कोमलायतामिति काचिच्च जगाद तत्पुरः ।।६४।।

किसी ने कहा—"अभी इसे मैं खाती हूँ", किसी ने कहा—"यह मेरा जलपान (लघु भोजन) होगी" तथा कोई अन्य यह कहती हुई कि "यह मेरी अँगुलियों के पोरों में मुलायम (कोमल) लगेगी" उस (सीता) के सामने गई ।।६४।।

इति भीषयितुं परायणास्त्रिजटा नाम निशाचरी सती ।
अवलोक्य ततो न्यवारयन्निजनाशं प्रतिबोध्य तर्जनात् ।।६५।।

इस प्रकार डराने में लगी हुई निशाचरियों को देख त्रिजटा नामक एक अच्छी निशाचरी ने यह कह कर उन लोगों को वैसा करने से रोका कि इसे डराने से तुम्हारा ही नाश होगा ।।६५।।

अविसह्य निशाचरीकृतं विविधोपद्रवमाशु जानकी ।
परितोऽपगतासु तास्वसूनथ सोत्स्रष्टुमियेष दुःखिता ।।६६।।

चारों ओर से निशाचरियों के भाग जाने पर तथा उनके द्वारा किये गये अनेक प्रकार के असह्य अत्याचारों से दुःखी हो कर जानकी ने आत्म-हत्या करनी चाही ।।६६।।

विटपे निजलम्बकेशतोऽरचयद्बन्धनमात्मघातनम् ।
श्रुतवत्यथ तत्क्षणं निजप्रियवार्तामुपवर्णितां शनैः ।।६७।।

आत्म-हत्या करने के लिए उन्होंने एक वृक्ष पर अपने लम्बे केशों से फाँसी लगाने का बन्धन बनाया । इसके बाद तत्काल ही धीरे से कहा हुआ अपने प्रिय पति का सन्देश उसने सुना ।।६७।।

अथ साऽभिदधे क ईदृशं वचनं श्रावयतेऽन्तिमक्षणे ।
यदि रूपमपि प्रदर्शयेन्निधनं मे ससुखं भवेत्तदा ॥६८॥

तब उस (सीता) ने कहा—"अन्तिम क्षण में इस प्रकार का वचन मुझे कौन सुना रहा है ? यदि वह (सुनाने वाला) अपना रूप भी मुझे दिखा दे तो मेरी मृत्यु सुखद होती ॥६८॥

हनुमान्निजरूपमास्थितः प्रणतस्तत्सविधे तदाऽगमत् ।
अवदच्च जनन्यवेहि मां रघुनाथप्रहितं स्वकिङ्करम् ॥६९॥

अपने रूप में प्रकट हो कर तथा जानकी जी को प्रणाम कर उनके निकट जा कर हनुमान जी ने कहा—"हे माँ ! रघुनाथजी का भेजा हुआ मुझे आप अपना दास समझें" ॥६९॥

इति वागमृतेन तर्पिता पुनरप्याप्य नवं नु जीवनम् ।
तव तेन सहास्ति सङ्गतिः कथमुन्मुच्य कचं जगाद सा ॥७०॥

इस प्रकार के अमृतरूपी वचन से तृप्त हो एवं नया जीवन प्राप्त कर जानकी किसी प्रकार अपने केशों को खोल कर बोली—"उनके साथ तुम्हारी संगति कैसे हुई ?" ॥७०॥

अभिधाय यथावदेव स रघुनाथेन समागमं निजम् ।
प्रददावथ वानरेश्वरः प्रणयात्प्रेषितमंगुलीयकम् ॥७१॥

हनुमान जी ने रघुनाथ जी से समागम की बातें यथावत् कह कर उनके द्वारा प्रेम से भेजी गयी अँगूठी उसे (सीता को) दे दी ॥७१॥

सपदि जनककन्यादाय रामेति चिह्न-
मुपगतमिव कान्तं मुद्रिकां प्रेक्षमाणा ।
नयनजलप्रवाहैरेव नो पुत्तलीय-
मिति विदिततमा स्यात्प्रेक्षकैः सूक्ष्मदृग्भिः ॥७२॥

झट से (शीघ्र ही) जानकी जी ने अँगूठी पर "राम" चिह्नित शब्द को देख, आये हुए आँख की पुतली की तरह प्यारे अपने पति की तरह देखती हुई नयनजल-प्रवाह गिराना प्रारम्भ किया। इसी जल प्रवाह के कारण वह देखने वाले को कठपुतली की तरह नहीं लगी। (सीता मानवी है, कठपुतली नहीं।) ॥७२॥

इति अशोकवर्तिनी सीता।

कृष्णाभिसारिका

शुचौ गते कापि विलासशीला विलोकयन्ती विमलेऽन्तरिक्षे ।
किञ्चिच्चलं मञ्जुलमेघखण्डं समुत्सुकाऽभूद्रमणाभिसारे ॥१॥

ग्रीष्म के बीत जाने पर साफ आकाश में कुछ चलायमान मेघ के टुकड़ों को देखती हुई कोई विलासिनी स्त्री अपने प्रेमी के पास रमण के लिए जाने को उत्सुक हुई ।१।

अचिन्तयत्किं विदधेऽधुनाहं दिवाभिसारस्य गतोऽद्य कालः ।
विघट्टितश्चापि निजोपभोगनिकेतनं यज्जलदः समायात् ॥२॥

वह सोचने लगी कि इस समय मैं क्या करूँ ? दिवाभिसार (दिन में प्रेमी के यहाँ जाने) का समय तो निकल गया । अपने उपभोग का स्थान (घर) भी नष्ट हो गया क्योंकि मेघ आ गया ॥२॥

क्षतिर्न काचिन्मम वर्तते यत्सर्वं विधत्ते व्यवसायिवर्गः ।
ततोऽसितं सम्विदधेऽद्य वेशं प्रियालयं यामि च तूर्णमेव ॥३॥

इससे मेरा कोई नुकसान नहीं है क्योंकि उद्योगी लोग ही सब कुछ करते हैं । इसलिए काला वेश धारण कर अपने प्रेमी के घर शीघ्र ही जाती हूँ ॥३॥

दूत्या कयाचित्परिबोध्य कान्तं संकेतसद्म प्रथितं तयोर्यत् ।
कृष्णाभिसारोचितवेशभूषं सक्ता समासज्जयितुं कृशाङ्गी ॥४॥

किसी दूती के द्वारा अपने प्रेमी को संकेत-गृह समझा कर वह कृशाङ्गी कृष्णाभिसार के योग्य वेश-भूषा सजाने लगी ॥४॥

उन्मुच्य मुक्ताभरणानि सद्यो विहाय मञ्जुध्वनिनूपुरे च ।
दधे निचोलं विरलाच्छरत्नं शितिद्युति क्षौमयुगञ्च रम्यम् ॥५॥

शीघ्र मोती के भूषणों एवं मनोहर ध्वनि वाले नूपुरों को छोड़ उसने काले रंग की कुछ रत्नजड़ित चोली पहन ली और दो सुन्दर चादर भी धारण कर ली ॥५॥

इत्थं मनोज्ञं सुविधाय वेशं मनोरथेनैव रथेन वामा ।
मनोभवेनापि च रक्ष्यमाणा चचाल तूर्णं विततेऽन्धकारे ॥६॥

इस प्रकार का सुन्दर वेश बना कर अपने मनोरथ रूपी रथ पर सवार हो, मदन से रक्षित वह (स्त्री) फैली हुई अंधियाली में जल्दी-से चली ॥६॥

धृते तदङ्गे जलदोपमाने श्यामेऽम्बरे भान्ति सुहीरकाणि ।
खद्योतवत्तामवलोकयन्यन्नावैति लोकः प्रमदां मनोज्ञाम् ॥७॥

उसके द्वारा शरीर में मेघ के समान काला वस्त्र धारण करने पर उसमें लगे हुए हीरे जुगनू की तरह शोभ रहे थे । उसे देख कर कोई भी व्यक्ति उसे सुन्दर महिला नहीं समझ सकता था ॥७॥

श्यामाम्बराच्छन्नशरीरशोभा श्यामेऽर्पितात्मोपनिशीथकाले ।
श्यामातटे श्यामतमालकुञ्जं श्यामा प्रयाति प्रमदा प्रमोदात् ॥८॥

काले वस्त्र से सुन्दर शरीर को ढकी हुई और श्याम (प्रेमी) को ही अपनी आत्मा समर्पित कर अर्द्ध रात्री में श्यामा (यमुना) के किनारे श्याम वर्ण के तमाल कुञ्ज में कोई श्यामा (स्त्री) आनन्द से जाती है ॥८।

वीक्षेत चेत्कोऽपि न साधुभावि विचिन्त्य चेत्थं चलवीक्षणं स्वम् ।
परिक्षिपन्ती परितः प्रयाति समर्पयन्ती च शनैः पदानि ॥६॥

यदि कोई देख ले तो ठीक नहीं होगा—ऐसा सोच कर अपनी चञ्चल आँखों को चारों ओर फेंकती हुई अपने पैरों को धीरे-धीरे जमीन पर रखती हुई जाती है ॥९।

नभस्वताऽस्या मुखमण्डलस्थ परावगुण्ठोऽपहृतः कदाचित् ।
तच्चन्द्रिका द्योतितदिग्विभागा विकम्पिताङ्गी जड़तामवाप ॥१०॥

यदि कभी इसके मुख ढकने वाले कपड़े को वायु हटा देता था तो अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से चारों दिशाओं को प्रकाशित करके वह काँपती हुई जड़वत् हो जाती थी ।१०

शनैः समासज्य पुनः कृशाङ्गी वासश्चचालावहिता यदग्रे ।
तावद्द्विजेन्द्रः कुपितो नु रक्त उद्यन्पुरः सन्ददृशेऽमनोज्ञः ॥११॥

पुनः वह कृशाङ्गी वस्त्र सम्भाल कर धीरे-से आगे बढ़ी, किन्तु तब तक उस सुन्दरी द्वारा उगता हुआ चन्द्रमा देखा गया जो जान पड़ता था कि कुपित हो कर रक्त (लाल) वर्ण का हो गया हो ॥११॥

शुभः प्रयाणे खलु सम्मुखस्थश्चन्द्रो भवत्येव, न तादृशोऽभूत् ।
पुराऽवधूतो यदसौ तदीयवक्त्रेण तत्कोपमितो नु किं सः ॥१२॥

यात्रा में सम्मुख चन्द्रमा शुभ होता है, किन्तु यहाँ वह वैसा नहीं हुआ। उसके मुखचन्द्र से तिरस्कृत हो जाने पर वह (चन्द्रमा) कुपित क्यों नहीं हो ? ।;१२॥

मनोभवस्त्वं मन एव किं मे न नन्दयन्पीडयसीति बाला ।
प्रयातुमग्रेन निर्वर्तितुञ्च शशाक शङ्काकुलिताभिधाय ॥१३॥

तुम मनोभव हो तब भी मेरे मन को क्यों नहीं सन्तुष्ट करते ? उसे पीड़ित करते हो—ऐसा सोच वह शंकाकुल बाला न आगे जाने में, न पीछे लौटने में समर्थ हुई ।१३

वहु प्रयासैरचितः सुवेशोऽसितोऽधुना निष्फलतां प्रयाति ।
कदा विरोधो विहितो मयास्य क्रुध्यत्ययं यत्खलु मह्यमद्य ॥१४॥

बहुत प्रयत्न से रचा हुआ यह काला पहिरावा इस समय निष्फल हो गया। इस (चन्द्रमा) का मैंने कब विरोध किया है जो आज यह मुझ पर क्रोध कर रहा है ।१४।

नालोक्यते जीवनदो घनोऽपि नवोदितेन्दुं तिरयेद्य एनम् ।
समाव्रजेद्वा न कुतोऽपि तूर्णं तदीय इत्थं समयोधुनाऽस्ति ॥१५॥

जीवन (जल) देने वाला बादल भी इस समय नहीं दीख पड़ता जो नवोदित इस चन्द्रमा को ढक देता। कहींसे वह आ जाता! किन्तु उसका समय भी तो नहीं है।१५

विचियन्त्यां हृदयेन तस्यामुपेन्दु मेघो लघुराविरासीत्।
तन्मध्यगो भाति विधुर्यथास्यमरयाः सुनीलाम्बर संवृतं सत् ॥१६॥

मन में ऐसा सोचने पर छोटा-सा मेघ का टुकड़ा चन्द्रमा के निकट पहुँच गया। उसके बीच में पड़ा हुआ चन्द्रमा नीला वस्त्र से ढका हुआ इस (कामिनी) के मुख की ही तरह दीख पड़ा ॥१६॥

आच्छादयँस्तां द्विजराजकान्ति शनैः शनैः पापचयो यथाऽसौ।
समेधमानोऽसितधूमयोनिर्व्याप्तः समन्तान्मदयन्मनोऽस्याः ॥१७॥

इसके मन को हर्षित करता हुआ वह मेघ पाप-समूह की तरह चन्द्रमा की कान्ति को ढकता हुआ धूआँ की तरह चारों ओर फैल गया ॥१७॥

सुतं विलोक्यावृतमञ्जनाङ्कं प्रवद्धमानै रिपुभिमहद्भिः।
मनो न किञ्चिद्विषसाद, लोके मलङ्किपुत्रात्क इवैति तृप्तिम् ॥१८॥

बढ़ते हुए बड़े-बड़े शत्रुओं से ढके हुए कलङ्कयुक्त चन्द्रमा को देख कर मन में कोई विषाद नहीं हुआ, क्योंकि संसार में कलङ्की पुत्र से कौन तृप होता है? ॥१८॥

तथा घनोऽभूत्सघनो यथासौ नैवाधिगन्तुं सरणिं शशाक।
आनन्द बीजं भवतीह यद्यत्सम्भाव्यते दुःखमयं तदेव ॥१९॥

मेघ वैसा सघन हो गया कि वह स्त्री रास्ते में चलने में असमर्थ हो गयी। जो आनन्द का बीज होता है वह कभी-कभी दुःखदायक भी हो जाता है ॥१९॥

पदं पदव्यां सभय ददाति प्रयाति मन्दं हृदयेन वेगात्।
श्रुत्वापि घोरं घनगर्जनं नो प्रत्यैति कान्तापहृतान्तरात्मा ॥२०॥

रास्ते में भय से पैर रखती थी। वेगयुक्त हृदय से मन्द-मन्द चलती थी। भयानक मेघ-गर्जन सुन कर भी प्रेमी से अपहृत आत्मा वाली वह नारी लौटी नहीं ॥२०॥

तावच्च शम्पा सहयोजनाय पयोधराके परिवर्तमाना।
पचक्रमे दर्शयितुं तदीयमार्गं समुत्तेजयितुं मनश्च ॥२१॥

उसे सहयोग देने के लिए मेघ के बीच में बिजली चमक कर उसे रास्ता दिखलाने लगी और साथ ही उसके मन को भी उत्तेजित करने लगी ॥२१॥

विद्युत्प्रभोद्भासितमार्गमध्ये सुखं व्रजन्ती सुविशालनेत्रा।
वार्बिन्दुवर्षैर्व्यथितेव किञ्चिन्मनो दृढं चालयितुं न शेके ॥२२॥

बिजली की प्रभा से प्रकाशित रास्ते में सुखपूर्वक जाती हुई विशाल नेत्रवाली वह नायिका जल-बिन्दु की वर्षा से कुछ पीड़ित की तरह अपने मन को दृढ़ कर नहीं चल सकी ॥२२॥

किं सीकरैर्वा मन उद्विजेत धाराप्रवाहैरपि नैव भीतिः ।
वज्रं पतेद्वापि न कापि चिन्ता न निश्चयो मे परिवर्तनीयः ॥२३॥

जल के बिन्दुओं से मेरे मन में क्या उद्वेग ? धारा-प्रवाह से भी मुझे भय नहीं । वज्रपात से भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है । मेरा निश्चय भी परिवर्तनीय नहीं है।२३

सहायिका वर्तत एव मेघ-क्रोडे स्फुरन्ती चपला मनोज्ञा ।
वेगात्कथञ्चित्समुपेत्य कान्तालयं प्रविष्टाऽभिमतं लभेऽहम् ॥२४॥

मेघ की गोद में चमकती हुई सुन्दर बिजली मेरी सहायिका है । किसी प्रकार तेजी से चल कर अपने प्रेमी के घर में प्रवेश कर अपना अभीष्ट प्राप्त करूँगी ।२४।

प्रमोदमाना हृदयेन वामा नृत्यल्लतामण्डलमण्डितं सत् ।
विद्युत्प्रभाभासितमेकमच्छं सद्मावलोक्योदित रोमराजिः ॥२५॥

नाचती हुई लतामण्डल के समूह से शोभित एक स्वच्छ घर को बिजली की चमक से उद्भाषित देख कर वह नायिका हृदय से अत्यन्त हर्षित हो रोमाञ्चित हो गयी ॥२५॥

ततः पुरस्तात्पुरुषं सुरूपमितस्ततो वीक्षणचञ्चलाक्षम् ।
विलोकयन्ती पदमप्यसौ नो शशाक सर्तुं नु जडीकृतेव ॥२६॥

तब सामने इधर-उधर देखने में चञ्चल आँखों वाला सुन्दर पुरुष को देखती हुई वह जड़वत् एक डेग भी बढ़ाने में समर्थ नहीं हुई ॥२६॥

प्रियस्य नेत्रेपि च तां चिरेण समुत्सुके द्रष्टुमितीव तूर्णम् ।
तस्यां समाजग्मतुरेणदृष्ट्यां सुनिर्वृतिं चापतुराप्य रूपम् ॥२७॥

उसके प्रिय के नेत्र भी बहुत दिनों से उसे देखने के लिए उत्सुक थे । शीघ्र ही उस हरिणाक्षी के सुन्दर रूप को देख कर उन्हें (नेत्रों को) अपार सुख मिला ॥२७॥

शीघ्रं समागत्य प्रियासमीपे प्रियः परां प्रीतिमवाप कामम् ।
अयि प्रिये ! तिष्ठसि किं मुधाऽत्र निगद्य कण्ठेऽर्पयदात्मपाणिम् ॥२८॥

शीघ्र ही अपनी प्रिया के समीप जा कर प्रिय ने अपनी इच्छा के अनुकूल प्रीति प्राप्त कर ली और उसने ऐसा कह कर—"प्रिये ! यहाँ व्यर्थ क्यों खड़ी हो ?"—उसके कण्ठ में अपना हाथ डाल दिया ॥२८॥

ईषद्विभज्य कमनीयकटिप्रदेशं कान्तोरसि प्रियतमा मुखमण्डलार्धम् ।
बाहुद्वयं वर गरे च समर्प्य तस्य विद्युल्लतेव मुदिरे मुदिता बभूव ॥२९॥

अपनी सुन्दर कमर को कुछ टेढ़ी करके, अपने प्रेमी की छाती पर आधा मुखमण्डल रख कर, उसके गले में दोनों बाहुओं को डाल कर वह प्रियतमा (नायिका) मेघ में बिजली की तरह प्रसन्न हुई ॥२९॥

इति कृष्णाभिसारिका ।

परिशीलनार्थ

रुक्मिणीपरिणयः

सुमना

श्रीमद्विदर्भनृपतेर्दुहिता मनोज्ञा श्रीरुक्मिणी वरगुणान् यदुनन्दनस्य ।
सूतैर्द्विजैश्च बहुशः परिवर्ण्यमानानाकर्ण्य कर्णसुखदान् विमना बभूव ॥१॥

विदर्भराज की सुन्दरी पुत्री श्री रुक्मिणी जी अनेक चारणों (सूतों) एवं ब्राह्मणों के द्वारा कृष्ण के श्रुतिमधुर उत्तम गुणों को सुन कर अनमना हो गयीं ॥१॥

श्रीभीष्मको मम पिता यदि वाञ्छतीत्थं स्यान्मे पतिः स भगवान् यदुवंशचन्द्रः ।
हा कष्टमित्यभिमतं न तु सोदरोऽसावङ्गीकरोति गुणदोषविमूढचेताः ॥२॥

यद्यपि मेरे पिताजी (श्री भीष्मक) यह चाहते हैं कि यदुकुल के चन्द्रमा कृष्ण भगवान् मेरे पति हों, लेकिन कष्ट की बात यह है कि गुण-दोष समझने में असमर्थ (मूढ़) मेरा भाई पिता की राय नहीं मान रहा है ॥२॥

रुक्मीगुणं कमिव वीक्ष्य निजानुरूपं भ्राता प्रदित्सति नु मां शिशुपालकाय ।
आदाय दानविषयं यदुभूषणाय पित्रेप्यसूयति स किं विपरीतबुद्धिः ॥३॥

(न जाने) मेरा भाई रुक्मी शिशुपाल में अपने जैसा कौन-सा गुण देख कर मुझे उसे देना चाहता है और यदुभूषण (कृष्ण) को देने की बात पर उल्टा समझने वाला वह (मेरा भाई) पिता पर भी क्यों कुपित है ? ॥३॥

किं तद्विधेयमधुना तदवाप्तियोग्यं सत्साधनं, भवतु येन निजेष्टसिद्धिः ।
क्वाप्यार्यवंशदुहिता स्वविवाहवार्तां कस्यापि नैव सविधे प्रकटीकरोति ॥४॥

सत्यं यदार्य

इस समय कृष्ण-प्राप्ति के अनुकूल कौन-सा उपयुक्त साधन है जिससे मेरा अभीष्ट सिद्ध हो। आर्यवंश की लड़की कहीं भी किसी के पास अपने विवाह की बात नहीं कहती है ॥४॥

यद्यप्यसौ वरमनोरथमात्मनो नो आविश्चकार सहसा रजनी तथापि ।
निद्रां ततः सहभवामपकृष्य सर्वं जज्ञे च बोधयितुमन्यमपि प्रसक्ता ॥५॥

यद्यपि रुक्मिणीजी ने अपनी उत्तम अभिलाषा किसी के भी सामने प्रकट नहीं की किन्तु रात्रि ने उनकी स्वाभाविक नीन्द का अपहरण कर उनकी अभिलाषा जान ली और दूसरों को भी इसे समझाने में वह समर्थ हो गई ॥५॥

संक्षीयमाणमृदुलावयवा नितान्तं स्वान्तेऽमलेऽमलरुचिंहरिमादधाना ।
सर्वान् विहाय विषयान् करणोपभोग्यान् सा योगिनीव ददृशे विजने सखीभिः ॥

उपभोग के सारे विषयों को छोड़ कर अपने निर्मल हृदय में स्वच्छ कान्ति वाले कृष्ण का ध्यान करती हुई योगिनी-सी एकान्त में बैठी हुई रुक्मिणीजी अपनी सखियों द्वारा देखी गयीं ॥६॥

वैदर्भि ! किं मनसि ते ननु वर्तते यच्चिन्तापरेव नितरामधुना विभासि ।
क्षीणाञ्चपाण्डुवदनां परिपीतदेहां दृष्ट्वा न शान्तिरधुनास्ति हि नः कथञ्चित् ७

"ऐ रुक्मिणी ! इस समय तुम्हारे मन में कौन-सी बात है जो चिन्ताकुल दीखती हो ? तुम्हारा दुबला शरीर, पीला एवं मलिन मुख देख कर हमारे मन में अशान्ति हो रही है" ॥७॥

श्रुत्वा सखीनिगदितं दरकम्पिताङ्गी वामे निधाय निजपाणितले कपोलम् ।
नोवाच किञ्चिदपि वाग्विभवेन बालोच्छ्वासेन हृद्गतमसौ सकलं जगाद ।८।

सखियों के वचन सुन भय से काँपती हुई अपने बाएँ हाथ पर अपना कपोल रख कर वह लड़की बोल कर तो कुछ भी नहीं कह सकी, किन्तु दीर्घश्वास द्वारा उसने अपने हृदय के अभिप्राय को प्रकट कर दिया ॥८॥

दृष्ट्वा तदैव तनयामथ भीष्मभार्या क्षीणप्रभां मनसि किञ्चिदिव स्मरन्तीम् ।
वामेन पाणिकमलेन तदीयमंसं धृत्वाऽपरेण चिबुकं निजगाद चेत्थम् ॥९॥

उसी समय मन में कुछ सोचती हुई कान्तिहीन अपनी बेटी (रुक्मिणी) को देख उसकी माँ (भीष्म-पत्नी) ने अपने बाएँ हाथ को उसके कंधे पर रख कर और दूसरे (दाहिने) हाथ से उसकी ठुड्डी पकड़ कर इस प्रकार कहा—॥९॥

पुत्रि ! त्वदीयमधुना हृदयं किमेतन्न ज्ञायते विकलमस्ति नितान्तमेव ।
क्षीणं शरीरमपि तेऽधिकमाधिमस्मिन् कालेऽप्रभं प्रतिपलं प्रकटी करोति ।१०।

"हे पुत्री ! इस समय तुम्हारा हृदय अत्यधिक व्यग्र है—इसका कारण मैं नहीं समझ पा रही हूँ। तुम्हारा क्षीण और कान्तिहीन शरीर भी सदा (प्रतिक्षण) तुम्हारे मन के कष्ट को सूचित कर रहा है ॥१०॥

आयात्ययं गुणगणप्रणयो त्वदीयपाणिग्रहावसर आशु किमित्युदास्से ।
सर्वे प्रमोदपरिपूरितचेतसस्तत् कार्यं विधातुमधुना परितो भ्रमन्ति ॥११॥

"हे गुणग्राही रुक्मिणी । तुम्हारे विवाह का शुभावसर शीघ्र ही आ रहा है । तुम क्यों उदास हो ? सब आनन्दचित्त हो कर उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए चारों ओर घूम रहे हैं ॥११॥

सख्यस्तव प्रियसुते वरगीतकानि गायन्ति मङ्गलमयान्यपि भूमिदेवाः ।
विघ्नेश्वरं दधिनिशाक्षतदूर्विकाभिः सम्पूजयन्ति शिवदं परिसंस्तुवन्ति ॥१२॥

"हे प्रिय पुत्री ! तुम्हारी सखियाँ सुन्दर मङ्गलगीत गा रही हैं और ब्राह्मण लोग भी दही, हल्दी, अक्षत, दूब से मङ्गलदाता गणेश की पूजा एवं स्तुति कर रहे हैं ।१२

वृद्धत्वमन्थरमतिर्जनकस्त्वदर्थं गोपालकं हलधरानुजमञ्जनाभम् ।
दीनैः समं कृतरतिं गहनानुरागं त्वत्स्वामिनं समभिलष्यति तन्न भावि ॥१३॥

"बुढ़ापे के कारण मन्दबुद्धिवाले तुम्हारे पिताजी बलराम के छोटे भाई को, जो दरिद्रों से अत्यधिक प्रेम करने वाला काला ग्वाला है, तुम्हारा पति बनाना चाहते हैं, किन्तु यह नहीं होगा ॥१३॥

भूपालमौलिमुकुटः शिशुपालनामा भूमण्डले प्रसृतसूर्यसमानधामा ।
त्वन्मञ्जुपाणिकमलग्रहणेऽर्हणीयो भ्रात्रा वरः सुविहितो विदितप्रभावः ।१४।

"राजाओं के मुकुट की तरह शिशुपाल नामक राजा का पराक्रम सूर्य के समान समस्त संसार में फैला हुआ है और जिसका प्रभाव सब को ज्ञात है, ऐसे श्रेष्ठ वर को तुम्हारे करकमल-ग्रहण करने के लिए तुम्हारे भाई ने निश्चित किया है ।।१४।।

चिन्तां जहीहि हृदयं कुरु सप्रमोदं सौभाग्यदाश्चगिरिजां प्रणमानुरागात् ।
वीरप्रियैव खलु वीरसुता जगत्यां प्रासादवासरसिका न वनेचरी स्यात् ।।१५।।

"चिन्ता छोड़ो । मन को प्रसन्न करो । प्रेम से सौभाग्यदात्री पार्वती को प्रणाम करो । इस संसार में वीर राजा की पुत्री वीर राजा की पत्नी बन कर महल में ही रहना चाहती है, न कि वह जङ्गल में विचरण करनेवाली बनना चाहती है ।।१५।।

इत्थं निशम्य गदितं श्रुतिसंज्वरन्तच्छ्रीरुक्मिणी नु हृदयात्सह सारयन्ती ।
नेत्रोद्भवेन पयसा वयसा किशोरी किञ्चिद्विचिन्त्य मनसा जननीं जगाद ।१६।

ऐसी कर्णकटु बात सुन कर किशोरी रुक्मिणीजी अपनी आँखों से निकले आँसुओं द्वारा उसे हृदय से निकालती हुई मन में कुछ सोच कर माँ से बोलीं— ।।१६।।

मातर्विधत्त इह यत्पितरौ सुतायास्तत्साधु नान्यकृतमत्र च भावि भव्यम् ।
भ्रात्रा विरुद्धमिदमाचरितं ततो मे चिन्तावृणोति हृदयं विदधे किमद्य ।।१७।।

"हे माँ ! माँ-बाप बेटी के लिए जो कुछ भी करते हैं उसका फल उत्तम होता है; दूसरे द्वारा किया हुआ कार्य वैसा उत्तम नहीं हो सकता । मेरे भाई ने विरुद्ध आचरण किया है—इसी कारण मेरे हृदय को चिन्ता घेरी हुई है । अब क्या करूँ ? ।।१७।।

चैद्यो यथा जननि ! हृद्यतरस्तथास्तु सर्वप्रियोऽस्तु यदि वाऽप्यनतिप्रियोऽस्तु ।
किन्तेन मेऽनभिमतेन परप्रियेण वार्तापि नोचिततमा श्रवणे तदीया ।।१८।।

"हे माँ ! शिशुपाल सभी के प्रिय हो या अप्रिय, मेरा अभीष्ट वह नहीं है । उसकी मुझे क्या जरूरत है ? उसकी चर्चा भी सुनना मेरे लिए अनुचित है ।।१८।।

गोपालकोऽस्ति यदि वा कमलावरोऽस्तिभ्रातास्ति वा हलधरस्य च वासवस्य ।
दीनप्रियोऽस्तिसुरराजसुपूजितोऽस्तिनीलाम्बुदोऽस्तिनवजीवनदोऽस्ति नूनम् ।१९

"कृष्ण ग्वाला हों अथवा लक्ष्मी-पति, बलराम के भाई हों अथवा इन्द्र के भाई, दीनों के प्रिय हों अथवा इन्द्र से पूजित हों; वास्तव में वह काले बादल के समान नया जीवन (प्राण, जल) देने वाले हैं—यह निश्चित है ।।१९।।

आरण्यकोऽस्ति विफलीकृतनन्दने वा वृन्दावने सुखविहारपरायणोऽस्ति ।
योवास्तिसोऽस्ति नहि तत्र विचारणीयं स्यान्मे तदीयचरणेऽविचलोऽनुरागः२०

"कृष्ण जंगली हों अथवा नन्दन वन से भी उत्तम वृन्दावन में विहार करने वाले हों; चाहे जो भी हों, उसका विचार मुझे नहीं करना है । उन्हीं के चरणों में मेरा प्रेम अविचल (स्थिर) रहे" ।।२०।।

तत्तन्निशम्य वचनं दुहितुर्दृढं सत्तत्त्वं विचिन्त्य जननी मनसा प्रसन्ना।
क्रोडे निधाय दरवल्गितवल्गुवक्त्रामूचे सुतां नयनवारि परामृशन्ती ॥२१॥

बेटी की उचित, उत्तम एवं दृढ़ बातों को सुन और सोच कर हृदय से प्रसन्न हो कर भय से संकुचित सुन्दर मुख वाली पुत्री को गोद में बैठा कर उसके आँसुओं को पोंछती हुई उसकी माँ बोली—॥२१॥

उच्चैस्तरः प्रियसुते ! ऽस्ति मनोरथस्ते पूर्णो भवेदचिरमेव सुरप्रसादात् ।
स्यात्सन्मुकुन्दचरणो च दृढानुरागोऽसौ त्वय्यतीव विदधातु दयां दयालुः ।२२।

"हे प्रिय पुत्री ! तुम्हारा मनोरथ बड़ा ही ऊँचा है। देवों की कृपा से वह पूरा हो, कृष्ण के चरणों में तुम्हारी भक्ति दृढ़ हो; वह दयालु तुझ पर कृपा करें !" ।२२।

श्रुत्वा ततः प्रियवचो जननीमुखात्सानन्दाश्रुपूर्णनयना चरणौ तदीयौ ।
आदाय पाणियुगलेन नमन्मुखेन्दुर्मन्दाक्षमुद्रितवचा मुदिता ननाम ॥२३॥

माँ के मुख से प्रिय वचन सुन आनन्दाश्रुपूर्ण हो कर उसके (माँ के) दोनों चरणों को हाथ से पकड़ कर अत्यन्त सुन्दर मुख वाले सिर को लज्जा से झुकाती हुई कुण्ठित वचन हो कर उसने माँ को प्रणाम किया ॥२३॥

भीष्मप्रिया निजसुतामिति सद्वचोभिः सन्तोष्य सम्यगसकृच्च शुभाशिषेत्थम् ।
तत्रैव तत्प्रियसखीसहितां विहाय कान्तालयं समगमन्मुदितान्तरात्मा ॥२४॥

अपनी बेटी के सुन्दर वचन सुन, अपने शुभाशिष से उसे सन्तुष्ट कर, उसे उसकी सखियों के साथ वहीं पर छोड़, प्रसन्न हृदय हो भीष्म की पत्नी अपने पति के कमरे में चली गयीं ॥२४॥

सख्यस्तदीयप्रणयं सुदृढं मुरारेः पादारविन्दयुगले समवेक्ष्य भव्यम् ।
प्रोचुः कथं प्रियसखि ! त्वमतीव खिन्ना नो दुर्लभः शुचिहृदां भगवान् मुकुन्दः२५

कृष्ण के चरणकमलों में उसका (रुक्मिणी का) सुन्दर एवं सुदृढ़ प्रेम देख कर उसकी सखियाँ कहने लगीं—"हे प्रिय सखी ! तुम क्यों अत्यन्त खिन्न हो ? पवित्र हृदयवालों के लिए कृष्ण भगवान् दुर्लभ नहीं हैं" ॥२५॥

सत्यं भवन्निगदितं वचनं तथापि ज्ञाप्यः कथं स भगवान् व्रजवल्लवीशः ।
ध्यानैकतानमनसां यदभीष्टदः किं नायात्ययं स्वयमलं परिचिन्तयालम् ।२६।

"तुम्हारी बातें सच हैं, किन्तु व्रजगोपियों के पति भगवान् को यह कैसे ज्ञात होगा ?" "ध्यान को एकाग्रचित्त करनेवालों का मनोरथ जो पूर्ण करते हैं, वह क्या स्वयं नहीं आ जायेंगे ? बेकार चिन्ता करना अनावश्यक है" ॥२६॥

चेदागमिष्यति हरिः स्वयमेव सख्यो । बोध्यस्तथापि झटिति क्रियतामुपायः ।
विप्रस्तदन्तिकमसौ त्वरयैव प्रेष्यो नैतद्रहस्यमनघे ! प्रकटीक्रियेत ॥२७॥

"हे सखियों ! यदि भगवान् स्वयं भी आ जाएँ तथापि उन्हें यह ज्ञात कराने के लिए शीघ्र कोई उपाय करो। उस ब्राह्मण को उनके पास शीघ्र भेजो, और हे पवित्र सखियों ! इस रहस्य को किसी के भी सामने प्रकट नहीं होने दो" ॥२७॥

आलीभिरित्यभिमतं निपुणं रहस्यं सम्मन्त्र्य कृष्णसंविधे द्विजप्रेषणाय ।
पत्रप्रसाधनविधौ च सखीर्नियुज्य ध्यानस्थिप्रियतमाऽवहिता बभूव ।।२८।।

इस प्रकार ब्राह्मण को कृष्ण के पास भेजने के लिए सखियों के साथ गुप्त मन्त्रणा कर तथा उन्हें (सखियों को) पत्र लिखने के सामान एकत्रित करने के लिए नियुक्त कर रुक्मिणीजी एकाग्रचित्त हो कृष्ण का ध्यान करने लगीं ।।२८।।

सख्याहृतं दलमसावुपजानुकृत्वा किञ्चिन्नटद्भृकुटिनेत्रमुखं विचिन्त्य ।
ध्याने प्रियं समुपयातमिवेक्षमाणा सम्बोध्य लेखनपरा सुमुखी बभूव ।।२९।।

सखी द्वारा लाये गये कागज को अपनी जांघ पर रख कर, अपने नेत्र, भौं और मुख को सिकोड़ कर कुछ सोचती हुई मुद्रा में, ध्यान में अपने प्रिय कृष्ण को उपस्थित देखती हुई, उन्हें सम्बोधित कर, वह पत्र लिखने लगीं ।।२९।

हे मोहन ! त्वमसि सर्वजनान्तरज्ञस्तत् किं न वेत्सि हृदयं त्वयि संयतं मे ।
न त्वद्विना क्षणमपि क्षमतेऽत्र देहेऽवस्थातुमाशु वितराश्रयमेतदर्थम् ।।३०।।

"हे मोहन ! आप सब के मन की बातों को जानने वाले हैं । क्या आप यह नहीं जानते कि मेरा हृदय आप में आसक्त है ? आप के बिना इस देह में मेरी आत्मा (मेरा हृदय) एक क्षण भी नहीं रह सकती । इसलिए शीघ्र ही मुझे शरण दें ।।३०।।

जाने भवन्तमबलाश्रयदानदक्षं रक्षन्तमात्मशरणं जितवैरिपक्षम् ।
हे प्राणनाथ ! नहि तत्क्षमते कथञ्चिन्नैष्ठुर्यमक्षियुगलेन निरीक्षणीया ।।३१।।

"आप को मैं अबलाओं के शरणदाता, शरणागतों की रक्षा करने वाला तथा शत्रुओं के विनाश करने वाला जानती हूँ । इसलिए हे प्राणनाथ ! किसी प्रकार भी मेरे प्रति निष्ठुरता करना आप के लिए शोभनीय नहीं है । अत: आँखों से मेरी ओर देखें" ।।३१।।

पत्रं विलिख्य निपुणा सुविदर्भबाला हूयादरेण गहनाशयविप्रवर्यम् ।
नत्वा जगाद भगवञ्छरणं त्वमेव सन्दृश्यसे मम परोपकृतौ रतोऽद्य ।।३२।।

पत्र लिख कर कुशल विदर्भराज-कन्या ने गम्भीर स्वभाव वाले ब्राह्मण को बुला कर और उन्हें प्रणाम कर उनसे कहा—"हे भगवन् ! मेरे उपकार में सदा लगे रहने वाले एक मात्र आप ही मेरा शरण दीखते हैं ।।३२।।

तद्द्वारकां सपदि याहि हरिं निरीक्ष्य पत्रं समर्प्य भगवन् वद मद्वचोभि: ।
त्वद्दर्शनार्थधृतगर्हितजीवनां मां शीघ्रं दयस्व सफलाञ्च विधेहि वाञ्छाम् ।३३

"हे भगवन् ! आप शीघ्र ही द्वारका जायें और कृष्ण से मिल कर मेरा पत्र दे कर उनसे मेरी बातें कहें कि केवल आप के दर्शन के लिए ही कष्ट सहन कर भी जीवित मुझ पर वह दया करें और मेरी मनोकामना पूरी करें" ।।३३।।

विप्रस्तदीयगदितं हृदये निधाय चादाय पत्रमभिवक्त्रनतिं विधाय ।
दत्त्वाशिषं वरमनोरथपूरणाय श्रीद्वारकां प्रति ययौ हरिदर्शनाय ।।३४।।

ब्राह्मण ने उसके वचन को हृदय में ग्रहण कर एवं पत्र लेकर गणेश जी को प्रणाम करते हुए रुक्मिणी जी को मनोरथ-पूर्त्ति का आशीर्वाद दे कर श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए द्वारका के लिए प्रस्थान किया ।।३४।।

श्रीरुक्मिणी द्विजवरं च विसृज्य कृष्णोपान्तेऽतिचिन्तनपरा विकला बभूव ।
चन्द्रादिरम्यविषयं समवेक्षमाणा न क्वापि निर्वृतिमसावगमत्कृशाङ्गी ।।३५।।

ब्राह्मण को कृष्ण के पास भेज कर रुक्मिणीजी अत्यन्त चिन्तन करने के कारण विह्वल हो गयीं और चन्द्रादि सुन्दर वस्तुओं को देख कर भी उस कृशाङ्गी को कहीं भी शान्ति नहीं मिल पाती थी ।।३५।।

दत्तं द्विजेन मम पत्रमसौ विलोक्य श्रुत्वा च वाचिकमथो ललना विहाय ।
अत्रागमिष्यति न वेति मुहुर्विचिन्त्य स व्याकुलेन मनसा विषसाद किञ्चित् ।३६

ब्राह्मण द्वारा दिये गये मेरे पत्र को देख कर एवं मेरे सन्देश को सुन कर भी कृष्णजी उन स्त्रियों को छोड़ कर यहाँ आयेंगे या नहीं —इसी बात को व्याकुल मन में बार-बार सोच कर वह खिन्न हो जाती थीं ।।३६।।

न द्वारकावसतिरस्ति हि केवलं स नो तद्गताश्च ललना ललनास्तदीयाः ।
विश्वं समस्तमधितिष्ठति तं तथाऽत्र सोप्यस्ति तन्मयमिदं विदितं जगद्यत् ।३७

कृष्ण केवल द्वारका में ही रहते हैं और केवल द्वारका की ही ललनाएँ उनकी पत्नियाँ हैं—ऐसी बात नहीं है। वह तो सारे विश्व में रहते हैं और यहाँ भी हैं। वस्तुतः यह सारा संसार कृष्णमय है ।।३७।।

आयाहि मोहन ! हरे ! कुरु नो विलम्बं मायात्यये ! किमपि दूरतरं समायात् ।
एषोस्ति किन्तु पुरतो न तु दूरतः स सा पर्वतो नरहरिं हरिमालुलुके ।।३८।।

"हे मोहन ! हे हरि ! आइए, विलम्ब मत कीजिए। क्या नहीं आयेंगे ? क्या काफी दूर तक चले आये ? यह तो मेरे सामने आ गये हैं, दूर नहीं हैं"—इस प्रकार वह सर्वत्र पुरुषोत्तम (नर हरि) हरि को देखने लगीं ।।३८।।

तामेकदा हरिमुपागतमीक्षमाणामालिङ्गितुं विततबाहुलतां वयस्याः ।
आगत्य मन्दचरणैरवलोकयन्त्यः किञ्चिन्निवेद्यमपि नो कथयाम्बभूव ।।३९।।

एक दिन ध्यान में कृष्ण को आये हुए देख कर रुक्मिणीजी उन्हें आलिङ्गन करने के लिए अपने बाहुओं को फैला रही थीं। (उसी समय) धीरे-धीरे आ कर उनकी सखियों ने उन्हें उस दशा में देख कर कुछ कहना चाहा, किन्तु वे लोग कुछ भी कह नहीं सकीं ।।३९।।

अग्रे पदानि कतिचिच्चलिता तथैव दृष्ट्वा पुरो निजसखीर्नतमस्तकाऽभूत् ।
लज्जस्व मा सखि ! हृदापि च साधनैश्च गत्वालयं समभिपूजय सिद्धिदात्रीम्।४०

(कृष्ण को आलिङ्गन करने के लिए) रुक्मिणीजी कुछ ही डेग आगे बढ़ी थीं

कि सामने अपनी सखियों को देख कर वह लज्जा से नतमस्तक हो गयीं। यह देख कर उनकी सखियों ने कहा—"हे सखी! लज्जा मत करो। तुम घर जा कर मन लगा कर सामग्रियों से सिद्धिदात्री देवी की पूजा करो ॥४०॥

यत्ते विवाहसमयः समुपागतोऽद्य मात्राज्ञया वहिरितो व्रज वामनेत्रे !
उद्यानवासिगिरिजालयमाशु गत्वा याचस्व तामभिमतं वरमर्चयित्वा ॥४१॥

"हे सुनयनी! तुम्हारे विवाह का समय निकट आ गया है। माँ की आज्ञानुसार अब तुम यहाँ से बाहर चलो और उद्यान में स्थित गिरिजा जी के मन्दिर में शीघ्र जा कर उनकी पूजा करके उनसे अपना अभीष्ट वर माँगो" ॥४१॥

श्रुत्वा विवाह समयं समुपात्तचिन्ता गौरीसमर्हणवराप्तिसमुत्सुकेव।
कृष्णानवाप्तिविततातधिरुजा कथञ्चित्सा निर्जगाम भवनात्सहिता सखीभिः ।४२

विवाह का समय निकट सुन अत्यन्त चिन्तित-सी वह (रुक्मिणी जी) गौरी की पूजा कर, वर प्राप्त करने के निमित्त उत्सुक हो कर किन्तु कृष्ण की अप्राप्ति से मन में कुछ खिन्नता ली हुई सखियों के साथ अपने घर से निकल पड़ीं ॥४२॥

अद्य प्रयाति भगिनी गिरिजार्चनार्थं तत्सम्प्रयान्तु परितो धृतकुन्तखड्गाः।
वीराः सुधीरव्रतयोऽवहिता स्वकार्ये रुक्मीति शङ्कितमनाः स्वयमादिदेश ॥४३।

रुक्मी (रुक्मिणी जी के भाई) ने सशंकित मन से अपने सैनिकों को आदेश दिया—"आज मेरी बहन गिरजा पूजन के लिए (उद्यान में) जा रही है। अतः उसकी रक्षा के लिए अपने कार्य में स्थिर बुद्धि वाले वीर लोग अपने हाथों में भाला-तलवार ले कर चारों ओर खड़े रहें" ॥४३॥

अद्यैव भाविजननं सफलं मदीयं यच्छ्रीमुकुन्दचरणाङ्कितचारुवीथीम्।
द्वारावती समधिगम्य विलोकयेऽद्य कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजयुगं भवभीतिमोक्षम् ।४४

(रुक्मिणीजी के संदेशवाहक ब्राह्मण सोचते हैं—) "आज मेरा जन्म सफल हुआ। मैं कृष्ण के चरणों से अंकित सुन्दर मार्गयुक्त द्वारकापुरी में जा कर श्रीकृष्ण के संसार के भयनाशक चरणकमलों के दर्शन करूँगा" ॥४४॥

सञ्चिन्तयन् द्विज इदं मनसा क्षुधादेः श्रान्तिं ययौ न पथि दूरतरं गतोऽपि।
कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजयुगार्पितमानसानां तृष्णाकदापिनहिवस्तुषुकेषुचित्स्यात्।४५

इस प्रकार मन में सोचता हुआ ब्राह्मण ने बहुत दूर तक चल कर भी रास्ते में भूख-प्यास का जरा भी कष्ट अनुभव नहीं किया। कृष्ण के चरणों में अर्पित मन वाले लोगों को किसी भी वस्तु की चाह नहीं रहती है ॥४५॥

इत्थं दिनानि कतिचित् क्षणवत्स मार्गे नीत्वा कथं कथमपि क्षणपूर्णचेता।
प्रापत्पयोनिधितटं भृशमुद्यदूर्मिमाकारयन्तमिव दूरत एव तूर्णम् ॥४६॥

इस प्रकार वह ब्राह्मण क्षणों के समान कुछ दिनों को मार्ग में बिता कर आनन्दपूर्ण चित्त से किसी प्रकार उस समुद्रतट पर पहुँचा, जो उन्हें अपनी तरङ्ग रूपी बाँहों द्वारा शीघ्र बुला रहा था ॥४६॥

चन्द्राननां बहिरवस्थितपूर्णकुम्भां नीलोपलालकमनोहरमस्तकान्ताम् ।
माणिक्यमञ्जुकरकम्रतरां प्रवालपादस्थलां सितमणिद्युतिमन्दहासाम् ।४७।
वज्रावलीविरचनाहसितामरेश प्रासादरम्यमुकुटां विपुलप्रकाशाम् ।
कृष्णानुरागसहितां महितां त्रिलोक्या कृष्णोरुबाहुयुगलेन सुरक्ष्यमाणाम् ।४८
वारां निधेरमितवारिसुपूरमध्ये प्रोद्यत्तरंगचयचारुसमर्चिताङ्घ्रिम् ।
कृष्णप्रियां प्रमुदिताप्तजनाश्रयां स द्वारावतीं समवलोक्य हृदाजहर्ष ।।४९।।

(यहाँ कुलक है।) कृष्ण के प्रिय, अति सुन्दर, समुद्र के बीच स्थित उस द्वारका नगरी को देख कर ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हो गये, जिसके तोरण पर कुम्भ कलश स्थापित है, जिसका मुख चन्द्रकान्त मणि का बना हुआ है, जिसकी दीवालों के ऊपरी भाग नीलमणि से बने हुए हैं, मणियाँ जिसके मस्तक के बाल के समान चमक रही हैं, जिसके भवन माणिक्य की सुन्दर कान्ति से चमक रहे हैं, जिसके तट पर समुद्र के लाल मूँगे बिखरे हुए दीख पड़ते हैं, जिसके चरण समुद्र की लहरों से सदा प्रक्षालित होते रहते हैं और जिसमें विश्वस्त सुखी लोग निवास करते हैं; उजले रंग की मणियों की कान्ति से द्वारका हँसती हुई दीख पड़ती है और इन्द्र की नगरी के मकानातों को भी तिरस्कृत करने वाले हीरे के बने हुए मकान द्वारका के मुकुट के समान है ।।४७-४९।।

द्वारावतीं समुपगम्य च विप्रवर्यो ध्यात्वा हरिं सपुलकः स्रवदश्रुविन्दुः ।
नत्वा पुनः पुनरसावुपरुद्धकण्ठश्चैतन्यवानपि विचेतनवद्बभूव ।।५०।।

द्वारका पहुँच कर कृष्ण का ध्यान करते हुए वह ब्राह्मण-श्रेष्ठ रोमाञ्चित हो गये एवं उनके नेत्र आँसुओं से भर गये। कृष्ण को मन ही मन बार-बार प्रणाम करते हुए उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया तथा उनकी चेतना विलुप्त-सी हो गयी ।५०।

द्वारस्थितेषु पुरुषेषु च केनचित्स नम्रेषु नम्र शिरसा परिसत्कृतः सन् ।
निर्दिश्यमानसरणिर्हरिसद्मनोन्तं नीतस्ततोऽन्यपुरुषैरपि वन्दितोऽभूत् ।।५१।।

द्वारकापुरी के फाटक पर अनेक विनम्र रक्षकों में से एक उस ब्राह्मण को सादर मार्ग दिखला कर कृष्ण जी के भवन तक ले गया जहाँ दूसरे रक्षकों ने उनका स्वागत किया ।।५१।।

तद्द्वाररक्षिपुरुषेण च नीयमानः कृष्णान्तिकं समगमन्मुदितान्तरात्मा ।
पीताम्बरं सतडिदम्बुधराभदेहं कृष्णं ददर्श नलिनीदलचारुनेत्रम् ।।५२।।

उनके द्वार-रक्षक द्वारा प्रसन्न हृदय ब्राह्मण कृष्ण के पास पहुँचाये गये और उन्होंने बिजलीयुक्त बादल के समान देह वाले, कमल के समान सुन्दर नेत्र वाले, पीतवस्त्रधारी कृष्ण के दर्शन किये ।।५२।।

दत्वासनं स्वयममुं प्रणतं द्विजेन्द्रं स्वीयेन पाणियुगलेन तमोपवेश्य ।
अर्घ्यं वितीर्य चरणौ नमदाननस्य प्रक्षालयच्च भगवान् प्रणतप्रियोऽसौ ।५३।

प्रणत जनों के प्रिय भगवान् ने प्रणाम करने वाले ब्राह्मण को बैठने के लिए स्वयं आसन दे कर अपने हाथों से उन्हें उठा कर आसन पर बैठाते हुए अर्घ्य से पूजन कर उनके चरण धो दिये ॥५३॥

ऊचे च सस्मितमुखो मधुरं द्विजेन्द्रं प्रायः परोपकरणार्पितदेहगेहाः ।
गच्छन्ति यद्गृहमिदं वरतीर्थतुल्यं पूतं पुनाति सकलं जनमात्मसंस्थम् ॥५४॥

तब मुस्कुराते हुए भगवान् ब्राह्मण से यह मधुर वचन बोले—"परोपकार में जिनके तन-मन लगे हुए हैं वे लोग जिस घर में पहुँचते हैं वह घर बड़े तीर्थ के समान पवित्र हो जाता है और उसमें रहने वालों को भी वे पवित्र बना देते हैं ।५४।

तत्तस्य यान्ति सदनं कृपया भवन्तो यस्योदयावसर एत्यविलम्बमेव ।
तन्निर्दिशावसर एष कुतश्च कीदृगायात्परं शुभतरो मम भूमिदेव ! ॥५५॥

"हे भूदेव ! आप जैसे ब्राह्मण कृपा पूर्वक उन्हीं के घर जाते हैं जिनका अभ्युदय अविलम्ब होनेवाला है । अतः मेरा भी आज सुन्दर दिन है । आप कहें कि कहाँ से किस प्रकार यहाँ पधारे हैं" ।५५॥

विप्रस्तदीयवचनामृतपानतृप्तो नत्वा जगाद भगवन्नित किं वचस्ते ।
ते त्वत्पदं प्रणतकल्पतरुं भजन्ते भावीह यस्य किमपि स्फुटमेव शर्म ॥५६॥

ब्राह्मण ने भगवान् के अमृत रूपी वचन के पान से तृप्त हो कर कहा—"हे भगवन् ! आप यह क्या कह रहे हैं ? जिन्हें सुख प्राप्त होने वाला है वे ही लोग कल्पतरु के समान अभीष्ट फल देने वाले आप के चरणों का भजन किया करते हैं।५६।

भाग्योदयादयमहं समुपागतोद्य त्वत्पादपद्मयुगलं शरणं दयालो ! ।
यद्वा विदर्भनृपतेर्दुहितुर्नियोगान्मृत्यं तथापि वशिनामति दुर्लभं सत् ॥५७॥

"हे दयालु भगवन् ! सौभाग्यवश अथवा विदर्भराज की पुत्री की आज्ञा से मैंने आज आप के युगल चरणकमलों की शरण प्राप्त की है जिसकी खोज संसार के लोग सदा करते रहते हैं और जो उनके लिए दुर्लभ है ॥५७॥

जनाति कुण्डिनपुरं विदितं विदर्भे तत्रास्ति भीष्मक इति प्रथितो नृपालः ।
श्रीरुक्मिणीति दुहिता भगवंस्तदीया योग्यास्ति सम्प्रति विवाहविधेर्मनोज्ञा।५८

"हे भगवन् ! आप विदर्भ में प्रसिद्ध कुण्डिन नगरी को जानते ही हैं । वहाँ भीष्मक नामक राजा रहते हैं, जिनकी सुन्दरी पुत्री रुक्मिणी इस समय विवाह-योग्य है ।५८।

चैद्याय सात्मवरणं त्वदधिष्ठितात्माश्रुत्वा न शान्तिमधिगच्छति वामनेत्रा ।
नालोक्यकिञ्चिदपि च त्वदवाप्त्युपायं मांप्राहिणोच्छशिमुखीविकलेन्द्रियासुः ५९

"चन्द्रवदना एवं सुनयना रुक्मिणीजी आप में ही मन लगायी हुई हैं । (शिशुपाल के साथ) अपने विवाह होने की बात सुन कर उनके मन एवं प्राण बिल्कुल व्याकुल हो गये हैं और आप की प्राप्ति का दूसरा कोई भी उपाय नहीं देख कर उन्होंने आप के पास मुझे भेजा है ॥५९॥

तच्छ्रीहरे ! झटिति कुण्डिनमेत्य तस्या वाञ्छां विधेहि सफलां प्रणतप्रियोऽसि ।
एवं निगद्य लिखितं प्रणयेन भैष्म्या पत्रं समर्प्य विरराम स भूमिदेवः ॥६०॥

"अतः हे श्रीहरि ! आप शीघ्र ही कुण्डिनपुर में आ कर उनकी मनोकामना की पूर्त्ति करें क्योंकि आप प्रणत जनों के प्रिय हैं।" इस प्रकार कह कर वह ब्राह्मण रुक्मिणी का प्रणयपत्र कृष्ण को दे कर चुप हो गये ॥६०॥

पत्रं प्रियाप्रहितमाशु हरिर्गृहीत्वाश्लेष्योरसा च नितरां मुमुदे मुकुन्दः ।
उद्वर्त्य तन्नयनवारिप्रमोद जन्मामृश्यादरेण महता सकलं पपाठ ॥६१॥

प्रिया द्वारा प्रेषित पत्र को शीघ्र ही ले कर अपने हृदय से लगा कर कृष्ण प्रसन्न हो गये और पत्र खोल कर आनन्दाश्रु पोंछते हुए उन्होंने आदर पूर्वक पत्र पढ़ा ॥६१॥

नैतत्सुकार्यमधुना सहते विलम्बं नो वा विमर्शसमयोऽध्रुवनिश्चयोऽस्ति ।
तत्तूर्णमेव सह विप्रवरेण तत्र गत्वानयामि मदधिष्ठितमानसां ताम् ॥६२॥

(श्रीकृष्णजी ने मन में सोचा—) "यह कार्य विलम्ब करने योग्य नहीं है, न तो अब सोचने-विचारने का समय ही है। अतः शीघ्र ही ब्राह्मणश्रेष्ठ के साथ वहाँ जा कर मुझ में मन लगायी हुई अपनी प्रणयिनी को लाऊँगा" ॥६२॥

निश्चित्य तद्गतमना हरिरात्मनैवाहूयोद्धवं स्वसचिवं विनिगद्य सर्वम् ।
सूतश्च दारुकमथो रथसज्जनाय तूर्णं दिदेश चलितुं स च सज्जितोऽभूत्॥६३।

ऐसा निश्चय करके मन में उसका (रुक्मिणी का) चिन्तन करते हुए कृष्ण ने अपने मन्त्री उद्धव को बुला कर उनसे सारी बातें कह कर सारथी दारुक को रथ तैयार करने का आदेश दिया और वह स्वयं भी चलने की तैयारी करने लगे ॥६३॥

चक्रं सुदर्शनमसावरिदर्पदानदक्षं दधद्वितत दिव्यप्रभं स्वपाणौ ।
प्रोद्यत्प्रचण्डकरदीपितदिग्विभागं नीलाम्बरं स भगवान् ददृशे जनेन ॥६४॥

सूर्य की किरणों से चारों दिशाएँ जब प्रकाशमान होने लगती हैं, उस समय के आकाश के समान श्यामवर्ण के श्रीकृष्ण भगवान् शत्रुओं के दर्प खण्डन करने वाले चमकीले सूर्यरूपी सुदर्शन चक्र को अपने हाथ में लिए हुए लोगों द्वारा दीख पड़े।६४

कौमोदकीं वरगदामपि पाञ्चजन्यं शंखं च नन्दकमसिं परभेददक्षम् ।
शार्ङ्गं धनुश्च मुकुटं वरकुण्डले च धृत्वारुरोह स रथं सह भूसुरेण ॥६५॥

चन्द्रमा की तरह प्रसन्न करने वाली श्रेष्ठ गदा, पाञ्चजन्य शंख, शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने वाली नन्दक तलवार, शार्ङ्ग धनुष, मुकुट और सुन्दर कुण्डल धारण कर ब्राह्मण के साथ वह रथ पर आरूढ़ हुए ॥६५॥

श्रुत्वानुजं हलधरो गतमेकमेव कार्यं निरीक्ष्य कठिनं ध्रुवविग्रहञ्च ।
तत्पृष्ठतो द्रुततरं गमनाय वाजिसैन्याधिपं समदिशत्प्रणयार्द्रचेताः ॥६६॥

बलराम ने यह सुन कर कि उनके अनुज (कृष्ण) अकेला जा रहे हैं और कार्य को कठिन देख कर जिसमें लड़ाई-झगड़ा सुनिश्चित जैसा था, प्रेमभाव से आर्द्रचित्त

हो कर उनके (कृष्ण के) पीछे शीघ्रातिशीघ्र जाने के लिए घुड़सवार सेनापति को आदेश दिया ॥६६॥

सा रुक्मिणी गिरिसुतासदनं प्रविश्य सख्याहृतैस्तदुचितैर्विविधैर्विधानैः ।
सम्पूज्य नम्रशिरसाऽवहिता नताङ्गी कृष्णं वरं नरवरं वरदां ययाचे ॥६७॥

उधर गिरजा के मन्दिर में प्रवेश कर अपनी सखियों द्वारा लायी गयी उचित सामग्रियों द्वारा विधि-विधान से उनकी पूजा करके नतमस्तक हो विनम्र भाव से रुक्मिणी ने वर देने वाली उस देवी से ऐसी याचना की कि मनुष्यों में श्रेष्ठ कृष्ण ही मेरे वर हों ॥६७॥

सञ्चोदितो रथवरः स तु दारुकेण प्राप्तानगानपि नगान् दवयन् जवेन ।
उल्लंघयन् विविधभूधरतोयराशीन् सत्कुण्डिनाख्यपुरमाशु समाससाद ॥६८॥

दारुक नामक सारथी द्वारा प्रेरित (चालित) वह रथ रास्ते में मिले अडिग पर्वतों को भी अपने वेग से दूर फेंकता हुआ तथा अनेक प्रकार की पहाड़ी-नदियों को पार करता हुआ अति शीघ्र कुण्डिनपुर पहुँचा ॥६८॥

दृष्ट्वा पुराद्बहिरसौ विपिने जनानां सङ्घं द्विजेन कथितं गिरिजार्चनञ्च ।
श्रुत्वाऽपरेण निजकार्य विधौ प्रवीणो द्वारेण विप्रसहितस्तदुपाससाद ॥६९॥

नगर के बाहर ही जङ्गल में लोगों की भीड़ एवं ब्राह्मण द्वारा बताये हुए गिरिजा पूजन देख कर अपने कार्य में सर्वथा कुशल कृष्ण दूसरे द्वार से उस ब्राह्मण के साथ ही प्रवेश कर गये ॥६९॥

प्रेक्ष्य प्रसन्नवदनामिव सिद्धिदात्रीं नत्वा पुनः पुनरसौ भवनात्तदीयात् ।
श्रीरुक्मिणी सुरुचिरे विपिने भ्रमन्ती कञ्चिद्ददर्श पुरुषं घनमञ्जुरूपम् ॥७०॥

सिद्धिदात्री देवी को प्रसन्नवदना देख कर बार-बार उन्हें प्रणाम कर अपने भवन से ही रुक्मिणी ने सुन्दर वन में भ्रमण करते हुए बादल के समान सुन्दर रूप वाले किसी पुरुष को देखा ॥७०॥

कुञ्जे प्रसूननिलये रहसि स्थिता सौ सोयं भवेदिति हृदा परिभावयन्ती ।
विप्रं विलोक्यनितरां मुमुदे ततः सा नैकं शशाक चलितुं पदमप्यमुष्मात् ॥७१

एकान्त पुष्पगृहरूपी निकुञ्ज में स्थित उस विप्र को देख कर वह (रुक्मिणी) अत्यन्त प्रसन्न हुईं। हृदय को भावनावासित कर देने वाले उस व्यक्ति के दृष्टि-गोचर होते ही वह एक डेग भी बढ़ाने में समर्थ नहीं हो सकीं ॥७१॥

पुष्पत्प्रसूननिकरे तरुगुल्ममध्येऽन्विष्यन् प्रियां तत इतश्च निलीयकृष्णः ।
प्रापन्निजाक्षिविषयं रमणीयरूपमेकत्र शाखिनिकरे द्विजदर्शितं सत् ॥७२॥

द्विज-दर्शन के उपरान्त विकसित पुष्प-समूहों एवं वृक्ष-गुल्मों के बीच छिपे हुए कृष्ण को इधर-उधर ढूंढ़ती हुई रुक्मिणी ने एक स्थान पर डालों के नीचे रमणीय

रूपधारी उनको (कृष्ण को) अपनी आँखों का विषय बनाया (देखा)। (श्लेष के कारण इस श्लोक का अन्य पक्षिपरक अर्थ भी हो सकता है) ।।७२।।

कृष्णोन्तिकं समुपगम्य नताननां तांस्विद्यच्छरीरलतिकांदरकम्पिताङ्गीम् ।
हृष्यत्तनूरुहचयामवलम्ब्य दोर्भ्यामारोपयन्निजरयं च शनैश्चचाल ।।७३।।

कृष्ण के समीप पहुँच कर उस अधोमुखी की शरीरलता स्वेदयुक्त हो गयी, भय से उनके अङ्गों में कंपन हो आया, उनकी रोमावलियाँ हर्षित हो गयीं; दोनों भुजाओं का सहारा ले कर अपनी गति को नियंत्रित कर वह धीरे-धीरे चलने लगीं ।।७३।।

कन्यां विलोक्य हरिणाऽपहृतां ततस्तत्सैन्यं रुरोध परितः पथि कृष्णयानम् ।
कुन्तादिशस्त्रनिवहेन च योद्धुमेव तूर्णं समुद्यतमभूद्वरविक्रमेण ।।७४।।

उस कन्या को अपहृत देख कर रुके हुए कृष्ण के रथ के मार्ग में चारों ओर उनकी (रुक्मिणी की) सेना रुक गयी जो भाला आदि शस्त्र-समूहों से युक्त युद्ध करने की कामना से अपने श्रेष्ठ पराक्रम को प्रदर्शित करने को उद्यत थी ।।७४।।

कृष्णस्ततो रिपुबलं सहसा स्वचापे सन्धाय बाणनिवहान् विशिताग्रभागान् ।
आकृष्य च श्रुतिसमीपममीभिरेव वेगाद्बिभेद मुदिरं पवनो यथाशु ।।७५।।

तदुपरान्त कृष्ण ने हठात् नुकीले अग्रभाग वाले बाण को चाप पर रख उसे कान तक खींच कर मुस्कुराते हुए पवन की द्रुत गति से शत्रुसेना का भेदन किया ।।७५।।

तावन्निशम्य हरणंग्रहिलो भगिन्या रुक्मी समागतनृपालसमाजमध्ये ।
उद्यम्य दक्षिणभुजं कृतवान् प्रतिज्ञां जित्वैव कृष्णमिदमात्मपुरं विशेयम् ।७६।

तब अपनी हठी बहन के हरण का समाचार सुन कर रुक्मी ने आगत राजाओं के बीच अपनी दाहिणी भुजा उठा कर विशेष प्रतिज्ञा की—"कृष्ण को जीत कर ही अपने नगर को लौटूंगा" ।।७६।।

वेगाद्रथं समधिरुह्य वरायुधाढ्यमोष्ठं दशन्नरुणनेत्रभयङ्करास्यः ।
सैन्यैः शितायुधधरैः सहितः समायाद्रे चोर ! तिष्ठ किमुयासिवदन्सरुक्मी७७

दाँतों से ओठ को चबाता हुआ, आँखें लाल कर लेनें के कारण भयंकर मुखवाला हो वह रुक्मी वेग पूर्वक रथ पर चढ़ तेज युद्धास्त्र धारण करने वाली सेना के साथ यह बोलता हुआ चल पड़ा—"अरे चोर, ठहरो ! कहाँ जाते हो ?" ।।७७।।

कृष्णः समागतमवेक्ष्य बलान्वितं तं मन्दस्मितेन वचसा मनसा प्रसन्नः ।
ऊचे, कथं त्वमपि वीर ! समागतोसि दृष्ट्वाऽत्रनौ प्रियतमालयमाशु याहि७८

सेना के साथ उसे आते देख कर मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए प्रसन्न मन से कृष्ण बोले—"हे वीर ! तुम भी किस लिए आये हो ? मुझे देख कर आप लोग जल्दी अपने प्रिय घरों को लौट जायें" ।।७८।।

रुक्मीति कृष्णगदितं वचनं निशम्याधिक्षेपपूर्णमवदच्चलदोष्ठवक्त्रः ।
जम्बूकवद्विहितवानधुनेति कार्यं नर्दस्यरेऽत्रप मृगेन्द्र इव त्वमित्थम् ।।७९।।

कृष्ण के इस प्रकार के वचन सुन कर क्रोध के आक्षेप से दाँत किटकिटाता हुआ तथा ओठों को कँपाता हुआ रुक्मी बोला—"तुमने अभी शृगाल के समान कार्य किया है। लज्जायुक्त इस कार्य के लिए तुम सिंहत्व प्राप्त करना चाहते हो?' '।७९।

इत्थं परस्परमधिक्षिपतोस्तयोस्तद्रुक्म्याश्रितं बलमरं सबलं मुकुन्दे ।
क्षेप्तुं शराञ्छितमुखानभितोऽरुणाक्षमारब्धवज्जितबहुप्रबलारिसैन्यम् ॥८०॥

इस प्रकार परस्पर वचनों का आदान-प्रदान करते हुए प्रबल कृष्ण पर रुक्मी द्वारा आदिष्ट लाल आँखों वाली प्रबल सेना ने चारों ओर से बाण छोड़ना प्रारम्भ किया ॥८०॥

कृष्णो निजाभिमुखमापततः शराँस्तान् भीमोरगान् विततपक्षधरानिवोच्चैः ।
चापात्ततोऽधिकजवैरिषुभिर्निरस्तैश्चिच्छेद तीक्ष्णफलकैः पथि तार्क्ष्यकेतुः ।८१।

कृष्ण ने भयङ्कर साँपों की भाँति पक्षधारी उन बाणों को तेजी से अपनी ओर आते देख उससे भी अधिक तेज एवं तीक्ष्ण धार वाले बाणों को चाप से छोड़ कर मार्ग में ही उनका नाश कर दिया ॥८१॥

रुक्मी ततोधिकरुषा निशितेषुणास्य वक्षस्यताडयदसौ तु विवेश नान्तः ।
चेतस्म्विशेदपि भवेन्नहि कापि हानिर्यत्सर्वदा विशति तत्र समस्तलोकः ।८२।

इसके बाद रुक्मी ने और भी अधिक क्रोध युक्त हो तीक्ष्ण बाणों से उनकी छाती पर प्रहार किया, किन्तु वे बाण उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हुए; यदि प्रविष्ट हो भी जाते तो जिनमें समस्त लोकों का प्रवेश हो जाता है उनकी कोई भी हानि नहीं हो सकती थी ॥८२॥

कृष्णोऽपि भीषयितुमेव तमामबन्धुं चापे निधाय सहसैव मुमोच काण्डम् ।
शार्ङ्गच्युतोव्यथयदेषहृदस्यसम्यग् दुष्टस्यचित्तमिववाङ्महतांनराणाम् ।८३।

कृष्ण ने भी अपने उस बन्धु को डराने के लिए धनुष पर बाण चढ़ा कर अचानक छोड़ा जिससे सार्ङ्गधारी अच्युत हृदय से वैसे ही दुःखी हुए जैसे दुष्टों के कृत्य से महापुरुषों का चित्त दुःखी होता है ।।८३॥

तावद्बलप्रहितमागतमस्य सैन्यं वैदर्भसैन्यमचिरेण विनाश्य वेगात् ।
आज्ञामवाप्य मुदितं यदुनन्दनस्य जग्राह रुक्मिणमथास्य पुरो निनाय ॥८४॥

इसके बाद विदर्भ देश की सेना ने सैनिकों के आगे आये रुक्मी को प्रसन्नवदन यदुनन्दन की आज्ञा पा कर शीघ्रता से पकड़ लिया और वह (सेना) उन्हें (रुक्मी को) उनके (कृष्ण के) आगे ले आयी ॥८४॥

आनीतमन्तिकमवाङ्मुखमप्रकाशं बद्धं धृतं हरिबलेन च रिक्तपाणिम् ।
दृष्ट्वा जगाद भगवान् वद किं विधेयं वीर ! त्वमेव, गतमद्य तवक्वशौर्यम् ८५

अपनी सेना द्वारा पकड़ कर बाँध कर लाये गये नीचे मुँह किये हुए खाली हाथ (रुक्मी) को देख कर भगवान् बोले—"हे वीर ! आप से कैसा (व्यवहार) किया

जाय ? (आप) क्या आप ही हैं ? आप की वीरता कहाँ चली गयी ?" ॥८५॥

श्रीरुक्मिणी प्रणतमेतदवस्थमाराद्दृष्ट्वाग्रजं हरिमुवाच विकम्पिताङ्गीम् ।
नायं प्रभोर्हति वधं कृतविग्रहोऽपि बन्धुस्ततोऽद्य भगवन् परिमोचनीयः ॥८६॥

अपने भाई को इस अवस्था में देख कर श्रीरुक्मिणी जी कम्पित वदनों से विनय पूर्वक कृष्ण से बोलीं—"हे प्रभो ! विग्रह करने पर भी यह आप के बन्धु हैं। अतः सर्वथा अवध्य हैं। हे भगवन् ! आप इन्हें छोड़ दें" ॥८६॥

श्रुत्वा नवप्रियतमागदितं मुकुन्दः स्मित्वा जगाद दयिते ! परिमुञ्च शङ्काम् ।
क्षौरं विधाय परिशुध्यति पातकेभ्यस्तत्तद्विधेयमधुनास्य ततोऽनु मोच्यः ।८७।

अपनी नयी प्रियतमा से ऐसा सुन कर मुस्कुराते हुए कृष्ण ने कहा—"हे प्रियतमे ! शङ्का छोड़ो ।" उसका (रुक्मी का) सिर मुड़वा कर और पाप से उसे शुद्ध कर ऐसा कहते हुए उन्होंने (कृष्ण ने) छोड़ दिया—"जो-जो इसने किया उसका फल पा गया" ॥८७॥

मद्रोचते भगवते वरमेव तन्मे जीवेदयं कथमपीति निवेदनीयम् ।
श्रुत्वेति कातरवचः परिमोक्तुमेनं कर्तुं तथा समदिशत्त्वरयैव कृष्णः ॥८८॥

"हे प्रभु ! जो आप को रुचे (प्रिय हो) वही मेरा भी प्रिय है। अब कहें, मैं कैसे जीवन-धारण करूँ ?" इस प्रकार उसके कातर वचन सुन कर कृष्ण ने उसे जल्दी छोड़ने का आदेश दिया ॥८८॥

इत्थं हरी रिपुबलं सकलं विजित्य कृत्वा च भीष्मतनयां सफलाभिवाञ्छाम् ।
पश्यञ्छ्रियं पथि महाचलकाननानां द्वारावतीं निजपुरीं समुपाजगाम ॥८९॥

इस प्रकार शत्रु की समस्त सेना पर विजय प्राप्त कर एवं भीष्म की पुत्री (रुक्मिणी) की मनोकामना को सफल बना कर मार्ग में पर्वतों और जङ्गलों की शोभा देखते हुए कृष्ण अपनी नगरी द्वारकापुरी पहुँचे ॥८९॥

स्वभ्रातरं प्रियतमासहितं स रामः श्रुत्वागतं सकुशलं मुदितान्तरात्मा ।
कर्तुं पुरीं सुरुचिरामचिराय तस्योद्वाहोत्सवाय परितः पुरमाविवेश ॥९०॥

यह सुन कर कि उनका भाई अपनी प्रियतमा के साथ सकुशल लौट आया है अत्यन्त प्रसन्नचित्त बलराम जी ने विवाहोत्सव मनाने के लिए उन्हें आगे कर नगर को अविलम्ब सुसज्जित करने के उद्देश्य से उस (नगर) में प्रवेश किया ॥९०॥

वाद्यै रथो बहुविधैर्भृतकर्णरन्ध्रै रुद्यद्ध्वजै रजतहेमकृतैश्च दण्डैः ।
अश्वैर्गजैर्विविधरत्नमयैश्च दीपैर्वध्वा समं हरिमसौ पुरमानिनाय ॥९१॥

गति से धूल उड़ाने वाले एवं सोने-चाँदी के दण्ड वाले पताकाओं से युक्त अनेक रथों, वाद्यों (जिनकी ध्वनि कर्णरन्ध्रों में गूँज रही थी, घोड़ों, हाथियों, अनेक रत्नों एवं दीपमालिकाओं के साथ बलराम जी एवं वधू के साथ कृष्ण इस पुरी में ले आये गये ॥९१॥

आहूय वेदनिरतान् स्वपुरोधसश्च विप्रान्, विधाय शुभ कर्म कुलोचितं सत् ।
आनन्दपूर्णहृदय: सुमहोत्सवेनोद्वाहं तयो: सपदि कारितवान् स रामः ।।९२।।

बलराम जी ने वेद पाठ में निष्णात अपने पुरोहितों तथा (कर्मकाण्डकुशल) अन्य ब्राह्मणों को बुला कर कुल-परम्पराप्राप्त शुभकर्मों का सम्पादन कराया। आनन्दपूर्ण हृदय से उन दोनों (कृष्ण-रुक्मिणी) का महान् विवाहोत्सव सम्पन्न करवाया ।।९२।।

नीता सखीभिरथ केलिगृहं कृशाङ्गी कृष्णं पटावृतदृशा शयने विलोक्य ।
द्वारं समावृतमसौ च सखी: प्रयातास्तत्रास्थितानतमुखी दरकम्पिताऽभूत् ।९३

सखियों के द्वारा सुडौल अङ्गोंवाली (कृशाङ्गी) रुक्मिणी जब कोहवर (केलिगृह) में लायी गयीं तब उसने घूँघट में छिपी हुई आँखों से कृष्ण को सोया देखा। देखते ही उसके शरीर में अज्ञात आशंका की कँपकपी हुई और सिर नीचा कर अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसने कोहवर का दरवाजा बन्द किया ।।९३।।

कृष्णो हसँश्च शयनादवतीर्य तूर्णमालम्ब्य पाणिकमलेन प्रियानतां सम् ।
आनीय तल्पमबलां बलवत्तदीयवासोऽवगुण्ठनमियेष निराविधातुम् ।।९४।।

बलवान् कृष्ण ने हँसते हुए कपटनिद्रा त्याग दी। पलंग से तेजी से उतर कर अधोमुखी प्रिया के पाणिकमलों को पकड़ कर अबला (रुक्मिणी) को पलंग पर बैठा कर उनका घूंघट हटाने की वह कोशिश करने लगे ।।९४।।

श्रुत्वा ननेति वचनं प्रियया प्रणीतं स्विद्यत्तनु: सपुलको भगवाञ्जगाद ।
नेत्यक्षरद्वयमिदं विधिसूचकं तत्किं वासु ! दर्शयसि नो वदनारविन्दम् ।।९५।।

उनसे (रुक्मिणी से) "नहीं, नहीं" वचन सुन कर भगवान् के अङ्गों में प्रस्वेद हो आया। वह पुलकित हो उठे। ये दो अक्षर उनकी भाग्य सम्पदा के सूचक थे। उन्होंने कहा—"हे सुन्दरी ! मैं तुम्हारे मुखकमल का दर्शनाभिलाषी हूँ ।।९५।।

द्रष्टुं त्वदीयवदनं नु समागताऽत्र जालान्तरेण रसिके ! ननु चन्द्रिकेयम् ।
तां स्वश्रिया शशिमुखि ! त्रपितां विधाय दूरीकुरुष्वभवनादचिरेण कान्ते ।९६

"हे प्रिये ! मैं तुम्हारे मुखदर्शन की अभिलाषा से यहाँ आया हूँ। यह रसिक चन्द्रमा भी झरोखे की छेद से झाँक रहा है। हे चन्द्रमुखी। हे प्रियतमे ! थोड़ी देर के लिए लज्जा छोड़ कर शीघ्रता से अपनी रूपसम्पदा दिखाओ ।।९६।।

वासन्तिकेन सुमनोरससौरभेण माद्यन् वहँस्तनुरसौ पवनः प्रियेऽद्य ।
नालोक्यतेकिमुपुमानितिचिन्तयित्वा देहं विनास्ति दयिते ! नतुशङ्कनीयम्।९७

"हे प्रिये ! आज वासन्ती पवन पुष्पसौरभ से मतवाला हो कर बह रहा है। हे दयिते ! इसे पुरुष समझ कर तुम नहीं देखती हो, किन्तु यह बिना शरीर के हैं। अत: यहाँ शंका नहीं करनी चाहिए ।९७।

पश्य प्रिये ! नवलतास्तव रम्यकेलिं द्रष्टुं गवाक्षविवरे मुखमर्पयन्ति ।
मन्दस्मितं कुसुमराजिमयं विधाय लज्जाकुलाः पुनरिदश्च निवर्तयन्ति ॥९८॥

"हे प्रिये ! देखो, कोमल लताएँ तुम्हारी रमणीय केलि को देखने के लिए खिड़की से झाँक रही हैं, पुष्प-गुच्छों के माध्यम से मन्द मुस्कान बिखेर रही हैं और लज्जा से व्याप्त हो कर अपना मुँह हटा लेती हैं ॥९८॥

इत्थं विधाय दयितामथ तन्मनस्कामाक्षिप्यकेलिरसिको मुखवस्त्रमच्छम् ।
मन्दाक्षमुद्रितवराक्षियुगां नतास्यामूचे प्रियां प्रियसखीमवलोकयात्र ॥९९॥

ऐसा कह कर केलिरसिक ने अपनी प्रिय सखी (प्रिया) का घूँघट हटा दिया । इस पर उन्होंने मुख नीचा कर आँखें मूंद ली, तब भगवान् बोले — "प्रिये ! यहाँ अपने प्रिय सखी को देखो" ॥९९॥

श्रुत्वागतां प्रियसखीं चकितं स्वनेत्रे प्रोन्मील्य सस्मितमुखं दयितं निरीक्ष्य ।
नोवाच किञ्चिदपि हास्यमिति प्रबुध्य तस्थौ प्रियाभिमुखमल्पविकासिनेत्रा१००

ऐसा सुन कर प्रिय सखी चकित एवं स्मितमुखी हो कर आँखें मूंद कर प्रिय को देख कर कुछ भी नहीं बोलती हुई हँसती रही तथा अल्पविकसित नेत्रों (कनखियों) से प्रिय को देखती रही ॥१००॥

उरसि तव सुमुक्तामालिकेयं विभाति
नगपतिपतितास्वर्वाहिनीवातिरम्या ।
इति हरिरभिधायादाय वक्षोजमीषत्
पुलकिततनुगात्रीमालिलिङ्ग प्रियां ताम् ॥१०१॥

"तुम्हारी छाती पर सुन्दर मोतियों की माला गङ्गा की धार-सी रमणीय है"— ऐसा कह कर उसके वक्षस्थल की ओर देखते रहने के कारण उस पुलकित तन्वङ्गी प्रिया को कृष्ण ने आलिङ्गनपाश में बाँध लिया ॥१०१॥

इति रुक्मिणीपरिणयः ॥

मानिनी राधिका

कदाचिदेकान्तनिकुञ्जदेशे स्फुटत्प्रसूनावलिरम्यवेशे ।
नटच्छिखिद्वन्द्वसुखप्रदेशे जगाद कृष्णो "मम जीवनेशे" ! ।।१।।

किसी समय खिले हुए फूलों से सुन्दर एवं नाचते हुए मयूर की जोड़ी के लिए सुखकर एकान्त निकुञ्ज प्रदेश में कृष्ण ने कहा—"मेरे जीवन की स्वामिनी !" ।१।

प्रियेरितोत्फुल्लदृगब्जयुग्मा जगाद राधा हरिमीक्षमाणा ।
किमालपस्यार्यसुताङ्घ्रिमूलमुपागताहं कमलामलाक्ष ।।२।।

कृष्ण से प्रेरित विकसित नयनों वाली राधा कृष्ण को देखती हुई बोलीं—"ऐ कमल के समान सुन्दर नेत्रवाले ! क्या कहते हैं ? आर्य पुत्र के चरणों में मैं आ गयी हूँ" ।।२।।

पश्य प्रिये ! त्वद्वरगाततुल्या सौदामनी श्यामघने घनेऽसौ ।
कदाचिदुत्सङ्गतले स्फुरन्ती कदाचिदन्तर्निहिता नु भाति ।।३।।

"प्रिये ! देखो, तुम्हारे सुन्दर शरीर के समान यह बिजली सघन श्याम घन (बादल) की गोद में कभी तो चमकती है और कभी उसके भीतर ही शोभती है ।३।

लवङ्गवल्लीललितालयोऽयं निकुञ्जदेशस्तनुते मुदं नो ।
कदम्बपुष्पाण्यपहायभृङ्गस्त्वदाननाभ्यासमुपैति कान्ते ! ।।४।।

"लवङ्ग लतिका से सुशोभित यह निकुञ्ज प्रदेश हम लोगों को आनन्द दे रहा है । हे कान्ते ! भौंरा कदम्ब पुष्प को छोड़ कर तुम्हारे मुख के समीप आ रहा है ।४।

गिरेति किञ्चित्कलुषीभवन्ती विनिःश्वसन्ती हृदयेन दूना ।
उवाच राधा ललितालयत्वान्नायं प्रियः किन्नु मया सहेतः ।।५।।

इस प्रकार की बातों से कुछ उदास एवं हृदय से दुःखी हो कर लम्बे-लम्बे श्वास लेती हुई राधा ने कहा—"ललिता में लीन (सुन्दर स्थान अथवा ललिता का घर) होने के ही कारण यह प्रिय मेरे साथ नहीं आये क्या ?" ।।५।।

इति प्रियाभाषणसन्नचेतास्तरङ्गचञ्चत्कमलाय ताक्षः ।
प्रिये ! प्रिये ! किं किमिति ब्रुवाणो हरिस्तदंसेऽर्पयदात्म पाणिम् ।६।

तरङ्ग में चञ्चल कमल की तरह आँखों वाले कृष्ण राधा की ऐसी बातें सुन कर सन्न रह गये और "प्रिये ! प्रिये ! क्या कहा ?" —ऐसा कहते हुए उन्होंने उनके कन्धे पर अपना हाथ रख दिया ।।६।।

ततश्चमत्कृत्य तदीयहस्तं निजांसतः सा सहसावतार्य ।
निरीक्षमाणारुणवीक्षणेन जगाद कृष्णं स्फुरताऽधरेण ।।७।।

तब उन्होंने चमक कर कृष्ण के हाथ को अपने कन्धे से सहसा हटा कर, लाल-लाल आँखों से उन्हें देखती हुई, अपने होठों को फड़फड़ाती हुई उन से कहा —।।७।।

अयं निकुञ्जो ललितालयश्चेन्मुधा मया सार्धमिहागतोसि ।
सहि प्रदेशः सुखदोऽस्ति यत्र प्रियाऽनुरागारुणमात्रयष्टिः ॥८॥

"यह निकुञ्ज यदि ललिता का घर है तो मेरे साथ यहाँ व्यर्थ ही आये हैं। वही जगह सुखद है जो प्रिया के अङ्गराग से रंग गया हो" ॥८॥

इतीरयित्वा तरलायताक्षी निवर्त्य चक्षुर्हरिवक्त्रचन्द्रात् ।
मनोयतीन्द्रो विषयादिव स्वमधोमुखी सा ववृते कृशाङ्गी ॥९॥

ऐसा कह कर उस कृशाङ्गी (राधा) ने कृष्ण के मुखचन्द्र की ओर से अपनी डबडबाई आँखों को हटा कर, मानो योगी की तरह विषयों से मन को हटा कर, अधोमुखी हो कर अपनी आँखें बन्द कर लीं ॥९॥

मुधा प्रिये ! खेदयसे नितान्तं स्वान्तं निजं वारिधरस्य काले ।
तान्तं घनं वासु ! विलोकयामुं कान्तं प्रयान्तं विमलेन्तरिक्षे ॥१०॥

"हे प्रिये ! बरसात के समय में अपने मन को व्यर्थ ही अधिक दुःखी बना रही हो। हे युवती ! स्वच्छ आकाश में जाते हुए इस प्रिय एवं दुःखित मेघ को देखो।१०।

झिल्लीस्वनः सुन्दरि ! सर्वतोयं संश्रूयते श्रोत्रसुखाकरोयः ।
न ते श्रुती प्राघुणिकं विधत्तः तत् किं प्रिये कारणमस्तिकिञ्चित् ।११

"हे सुन्दरी ! सुनने में मधुर ये झिंगुर के शब्द सब ओर सुने जा रहे हैं, किन्तु तुम्हारे दोनों कान इन्हें अपना अतिथि नहीं बना रहे हैं अर्थात् तुम नहीं सुन रही हो। प्रिये ! इसका कोई कारण है क्या ? ॥११॥

लताश्रितः सुन्दरि ! सौम्यरूपो विभाति खद्योतचयः समन्तात् ।
त्वदीयदेहोद्गतधर्मविन्दुवृन्दं यथा तत्समयप्रजातम् ॥१२॥

"हे सुन्दरी ! लताश्रित सुन्दर जुगनू-समूह उस समय निकले हुए तुम्हारी देह के स्वेदकण-समूह की तरह चारों ओर शोभ रहे हैं ॥१२॥

नैतत्पुरः पश्यसि किन्नु बाले खद्योतवृन्दं विटपानुसारम् ।
त्वद्बाहुरत्नाभरणानुरूपं विभाति ते नूपुररत्नवद्वा ॥१३॥

"हे बाले ! सामने वृक्षाश्रित इस जुगनू-समूह को क्यों नहीं देखती ? यह तुम्हारी बाँह के रत्नखचित भूषण की तरह अथवा रत्नजड़ित नूपुर की तरह शोभरहा है१३

हरित्तृणाच्छादितभूमिरेषा विभाति खद्योतगणैः स्फुरद्भिः ।
सुवर्णसूत्रादभुतविन्दुयुक्तं हरिद्वसाना वसनं यथा त्वम् ॥१४॥

"हरी घास से ढकी हुई यह भूमि उड़ते हुए जुगनू के कारण सोने के तार से बनाये हुए बिन्दुयुक्त हरी साड़ी पहनी हुई-सी तुम्हारी ही तरह शोभती है ॥१४॥

प्रिये ! शुभे ! भ्राम्यति सर्वतोऽयं खद्योतसङ्घोऽग्निकणप्रकाशः ।
जगद्विजेतुर्मदनस्य वह्निबाणस्फुलिङ्गालिरिवान्तरिक्षे ॥१५॥

"हे शुभे ! हे प्रिये ! चिनगारी की तरह चमकने वाला यह जुगनू-समूह संसार-

विजेता मदन के अग्निवाण की चिनगारी-सी आकाश में चारों ओर घूम रहा है ।।१५।।

कीटोऽपि कान्तेऽणुवपुः समन्तात्प्रमोदते मोदयते तथाऽन्यम् ।
न त्वन्मनस्तं प्रसमीक्ष्य चापि दधाति मोदं विदधाति तादृक् ।।१६।।

"छोटा शरीर वाला कीड़ा भी अपने प्रिय के चारों ओर आनन्दित होता हुआ दूसरों को भी आनन्दित कर रहा है । तुम्हारा मन उस प्रिय को देख कर भी उस तरह प्रसन्न नहीं हो रहा है और न तो दूसरों को ही प्रसन्न कर रहा है ।।१६।।

स्वयं प्रकाशं तव मानसं वा ब्रह्मेव तत्किन्नुविकाशयेत ।
यदि प्रसादस्तु भवेत्तदीयः कुत्रापि, तत्स्वं लभतेप्रकाशम् ।।१७।।

"अथवा स्वयं प्रकाशित ब्रह्म की तरह तुम्हारा मन क्यों नहीं विकसित होता ? यदि वह प्रसन्न हो जाय तो अपना मन भी प्रकाश प्राप्त कर लेगा ।।१७।।

तद्यातु सर्वं विकसत्प्रसूनगुच्छस्थभृङ्गां नवयूथिकां त्वम् ।
प्रोद्यत्कुचानप्रतरां स्वकीयतनुं यथा पश्य विशालनेत्रे ! ।।१८।।

"हे विशालनेत्र वाली ! सब छोड़ो । उठते हुए स्तनों के कारण झुकी हुई अपनी देह की तरह विकसित गुच्छस्थ भ्रमर वाली नयी जूही को देखो ।।१८।।

सुगन्धयुक्तं विशदं मनोज्ञं वासो यथा पुष्पचयं दधाना ।
मत्तद्विरेफारवरम्यवाणी विभाति यूथी गणिकाभिसारा ।।१९।।

"सुगन्धित, स्वच्छ एवं सुन्दर वस्त्र की तरह पुष्प-संभार (पुष्प-समूह) को धारण करती हुई मधुमत्त भौंरे की आवाज से सुन्दर वाणी वाली जूही गणिका-भिसारिका की तरह शोभ रही है ।।१९।।

त्वदाननामोदहरो नु कान्ते ! विभात्ययं केशरनामवृक्षः ।
अतो नु पुष्पाणि घनानि पत्रैराच्छादयँस्तिष्ठति सम्मुखे ते ।।२०।।

"हे कान्ते ! यह मौलसिरी (बकुल) नामक वृक्ष तुम्हारे मुख के आनन्द को चुराने वाले की तरह प्रतीत हो रहा है । जान पड़ता है कि इसीलिए तुम्हारे सामने घने फूलों को पत्तों से ढक रहा है ।।२०।।

यद्वा तदीयं कुसुमं विहाय भृङ्गास्त्वदभ्यासमुपाव्रजन्ति ।
ततो ह्रियायं वकुलो नु कान्ते ! दलैः स्वपुष्पाणि तिरोदधाति ।२१।

"अथवा भौंरे उसके फूलों को छोड़ कर तुम्हारे समीप आ रहे हैं । हे कान्ते ! जान पड़ता है कि लाज के ही कारण यह (बकुल) अपने फूलों को पत्तों से ढकता है ।।२१।।

प्रसार्य वर्हं बहुचन्द्रकान्तं कान्तेन कान्ते सह वर्हिणीयम् ।
नटत्यलं ते न मनो मनोज्ञे ! कुतो विधत्तेऽनुकृतिं तदीयाम् ।।२२।।

"हे कान्ते ! बहुचन्द्रिका वाले पंखों को फैला कर यह मयूरी अपने प्रिय के साथ खूब नाच रही है । हे सुन्दरी ! तुम्हारा मन उसका अनुसरण क्यों नहीं करता ? २२

पुरा त्वदीयं वरबालभारमुपान्तचन्द्राननमीक्षमाणा ।
विलज्जिताभूद्बहुचन्द्रकापि सेयं नटत्यद्य नु खेदतस्ते ॥२३॥

"तुम्हारे केशपाश के समीप तुम्हारे मुखचन्द्र को देखती हुई यह मयूरी बहुत चन्द्रवाली होने पर भी पहले अत्यन्त लज्जित होती थी। मुझे जान पड़ता है कि यह तुम्हारे दुःख को देख कर आज नाच रही है ॥२३॥

यां बालमात्रेण तिरो व्यधास्त्वं तां किं नटन्तीं क्षमसे पुरस्तात् ।
सांसर्गिकं बाल्यमुपागतं ते जाने,ऽन्यथा कः सहतेऽरिनृत्यम् ॥२४॥

"जिसे बाल मात्र से तुमने ढक दिया था, उस सामने नाचती हुई को कैसे क्षमा कर सकती हो ? जान पड़ता है कि तुम्हारा सांसर्गिक बचपन आ गया है अन्यथा शत्रु के नाच को कौन सहेगा ? ॥२४॥

यदीयवर्हाञ्चितमौलिरेव कृतापराधो नु मतोऽधुनाहम् ।
ततः प्रिये किन्न निरीक्ष्यतेऽसौ प्रमोदमानः प्रियया मयूरः ॥२५॥

"जान पड़ता है कि उसके पंखों के बने मुकुट होने के कारण इस समय मैं अपराधी माना गया हूँ। इसलिए हे प्रिये ! प्रिया के द्वारा खुश किये जाते हुए इस मोर को क्यों नही देखती ? ॥२५॥

तत्त्वं यदेतत्त्वरितं मया तन्निरस्यते त्वत्सविधे मृगाक्षि !
यद्वा त्वदीयाङ्घ्रितलं प्रणामव्याजादुपैतीव स वर्हरूपः ॥२६॥

"हे मृगाक्षी ! यदि तुम्हारे समीप इसे शीघ्र ही मैं हटा दूँ तो ठीक है, लेकिन पंखस्वरूप यह प्रणाम के छल से तुम्हारे चरणों में जा रही की तरह है" ॥२६॥

इतीरयित्वा शिरसः स्वकीयाद्वर्हिमौलिं सहसाऽवतार्य ।
प्रियाङ्घ्रिपद्मे नमदुत्तमाङ्गो न्यवेदयन्नन्दितनन्द सूनुः ॥२७॥

वह कह कर आनन्दित नन्दनन्दन ने अपने सिर से मोर-मुकुट को एकाएक उतार कर सिर झुकाते हुए अपनी प्रिया के चरणकमलों में निवेदित कर दिया।२७।

तथापि राधां गतमन्युबाधामवीक्ष्य साधारणपुंस्वरूपः ।
जगन्नियन्ता स्मयमान एव चचाल कान्तामवलोकमानः ॥२८॥

तब भी साधारण पुरुष की तरह जगन्नियन्ता कृष्ण राधा के क्रोध के वेग को कम नहीं देख कर आश्चर्य करते हुए प्रिया को देखते हुए ही चल पड़े ॥२८॥

हृदैव वृत्तं परिचिन्तयन्स समागमत्सद्म कथं कथञ्चित् ।
पुनः पुनः कोपकषायिताक्षीमवेक्षमाणः क्षणदां व्यनैषीत् ॥२९॥

मन में ही उस बात को सोचते हुए वह घर चले आये और बार-बार क्रोध से लाल आँखों वाली राधा को देखते हुए उन्होंने किसी-किसी तरह रात बितायी।२९।

हरिं प्रयान्तं प्रसमीक्षमाणा हसन्मुखं साधु लसत्किरीटम् ।
शनैः शनैः संस्रवदल्पमन्युर्बभूव चञ्चच्चतुराक्षिपद्मा ॥३०॥

चञ्चल और चतुर नेत्र कमल वाली राधा हँसमुख और सुन्दर मुकुट वाले जाते हुए हरि को देखती हुई धीरे-धीरे अल्पक्रोध वाली हो गयी ॥३०॥

निजाश्रयं वृक्षमथो निकुञ्जं ततस्त्वरण्यं जहतं मुकुन्दम् ।
उत्थापिता प्रेक्ष्य बलात्कृशाङ्गी केनापि धैर्यच्युतिकारिणा सा ॥३१॥

रहने का स्थान, वृक्ष, निकुञ्ज और इसके बाद जङ्गल को भी छोड़ते हुए कृष्ण को देख कर कृशाङ्गी राधा धैर्य छोड़ने वाले किसी कारण से हठात् उठायी गयीं ।३१

अये ! प्रयासि क्व विहाय कान्त ! तिष्ठ क्षणं वच्मि हसामि वीक्षे ।
गतो गतः किं किमिति ब्रुवाणा वहिर्निकुञ्जात्सहसा निरीता ॥३२॥

"ऐ कान्ते ! कहाँ जाते हैं ? थोड़ी देर ठहरें । बोलती हूँ, हँसती हूँ, देखती हूँ । चले गये क्या ? चले गये क्या ?"--ऐसा कहती वह एकाएक कुञ्ज से बाहर निकल गयीं ३२

एह्येहि किं यासि ? मुकुन्द ! हास्यात्प्रेमातिरेकं हि परीक्षमाणा ।
मानं दधे, यद्वरदम्पतीनां वदन्ति विज्ञा निकषं तमेव ॥३३॥

"हे मुकुन्द ! क्या जा रहे हैं ? आइए; आइए । निश्चय ही प्रेमाधिक्य की परीक्षा लेती हुई मैंने मजाक से मान धारण किया था, क्योंकि विशेषज्ञ लोगों ने उत्तम पति-पत्नी की कसौटी मान ही रखी है" ॥३३॥

इति ब्रुवाणा निजबाहुयुग्मं प्रसार्य किञ्चिच्छनकैः प्रयान्ती ।
उपागता दृष्टिपथे स्वसख्याः प्रिये ! किमेतच्चनिवेदिताऽभूत् ॥३४॥

यह कहती हुई दोनों बाँहों को फैला कर धीरे से कुछ आगे बढ़ती हुई सखी से देखी गयी और सखी ने निवेदन किया --"प्रिये ! यह क्या ?" ॥३४॥

समागतो मन्मथमानहारिन् भुजान्तरालं समुपेहि तूर्णम् ।
त्वदीयविश्लेषणादोऽधितप्तं मदीयवक्षः शिशिरं विधेहि ॥३५॥

"काम के मान मर्दन करने वाले प्रिय ! कहाँ गये ? मेरे भुजाओं के बीच जल्दी आयें । आप के अलग होने के कारण तपी हुई मेरी छाती ठण्डी कर दें ॥३५॥

प्रिये ! इति श्रोत्रयुगं मदीयं शृणोति वाचं मधुरांत्वदीयाम् ।
मनो मनोज्ञं वपुरीक्षते च न वीक्षणं तत्सुभगत्वमेति ॥३६॥

"मेरे दोनों कान आप के मधुर वचन—प्रिये !—सुन रहे हैं और मन (आप के) सुन्दर शरीर को देख रहा है, किन्तु आँखें उस सौन्दर्य को नहीं देख रही हैं" ।३६

इत्थं ब्रुवन्ती च शनैः सरन्ती सख्यङ्गसङ्गं समवाप्य राधा ।
उरोजकाठिन्यनि पीड्यमाना सकम्पगात्री ववृते कृशाङ्गी ॥३७॥

इस प्रकार बोलती हुई और धीरे-धीरे आगे बढ़ती हुई पुनः कृशाङ्गी राधा सखी के अङ्ग-सङ्ग प्राप्त कर स्तनकाठिन्य से उसे दबाती हुई शरीर से काँपने लगीं ॥३७॥

मा मा शुचस्तत्त्वमिदं स्वकीयं ब्रूहि प्रिये ! किं विकलेव भासि ?
तवान्तरात्मास्मि ततो न किञ्चिद्गोप्यं यथावद्विनिवेदनीयम् ॥३८।

"प्रिये ! शोक मत करो, मत करो। अपनी स्थिति कहो। मैं तुम्हारा हृदय हूँ। इसलिए कुछ भी छिपाने की बात नहीं है। ठीक-ठीक बतलाओ" ॥३८॥

प्रिये ! त्वदग्रे न रहस्यमस्ति चिरान्मुकुन्दोऽमिलितोऽत्र कुञ्जे ।
मानं दधत्यां मयि खिन्नचेता यातोऽन्यतस्तं परिचिन्तयामि ॥३९॥

"प्रिये ! तुम्हारे सामने कोई भी रहस्य नहीं है। कुछ देर पहले इस लता-भवन में कृष्ण मिले थे। मेरे मान-धारण करने पर दुःखी हो कर वह दूसरी ओर चले गये। उन्हीं को सोच रही हूँ" ॥३९॥

व्रजाऽधुना वेश्म विहाय चिन्तां स्वयं समायास्यति सौम्यरूपः ।
प्रायोमनोऽभिन्नमिति प्रसह्यायः कान्तवत्कर्षति तन्मिथो वै ॥४०॥

अभी चिन्ता छोड़ घर चलो। वह सुन्दर स्वयं आयगा। प्रेमी मन अभिन्न होता है और इसीलिए वह चुम्बक की तरह एक दूसरे को आकर्षित करता है" ॥४०॥

परस्परं ते इति मन्त्रयित्वा गते ततः स्वं सदनं वयस्ये ।
हरे ! प्रभो ! मोहन ! इत्यभीक्ष्णं निनाय राधा रजनीं ब्रुवाणा ।४१।

इस प्रकार परस्पर सलाह कर दोनों सखियाँ अपने-अपने घर चली गयीं। "हे हरि ! हे प्रभु ! हे मोहन !"—इस प्रकार बोलती हुई राधा ने रात बितायी ॥४१।

अथ प्रभाते वृषभानुकन्या निजालयाभ्यासमुपाव्रजन्तम् ।
अनाप्ततारुण्यमनङ्गकान्तं मनोज्ञरूपं विमलाम्बराभम् ॥४२॥
भालोर्ध्वगं ग्रन्थियुतं शिखण्डं भस्मत्रिपुण्ड्रञ्च ततोप्यधस्तात् ।
रुद्राक्षमालां हृदये, कटौ च दधानमेणाजिनमञ्जनाभम् ॥४३॥
करेण चैकेन कमण्डलुञ्च मुद्रां तथा ज्ञानमयीं परेण ।
सम्बिभ्रतं प्रेयसि ! राधिके ! मे जपन्तमन्तयतिमालुलोके ॥४४॥

इसके बाद प्रातःकाल वृषभानु-कन्या ने अपने घर के पास चलते हुए किशोर मदन की तरह सुन्दर, स्वच्छ आकाश की तरह ललाट के ऊपर गाँठ दी हुई चोटी, उसके नीचे भस्म के त्रिपुण्ड, वक्षस्थल पर रुद्राक्ष की माला, कमर में काला मृगचर्म, एक हाथ से कमण्डलु और दूसरे हाथ से ज्ञानमय मुद्रा धारण किये हुए तथा "मेरी प्रेयसी राधिका"—यह भीतर जपते हुए एक योगी को देखा ॥४२—४४॥

उपागता तं सहसा, निवेद्य, निनाय गेहप्रतिहारदेशम् ।
विधाय सत्कारमथो यथावन्निवेदयामास कृताञ्जलिः सा ॥४५॥

सहसा उस योगी के पास पहुँच निहोरा कर वह उसे घर के द्वार पर ले गयीं। इसके बाद यथावत् सत्कार करके हाथ जोड़ कर राधा ने निवेदन किया—॥४५॥

मुनेऽधुना यद्विनिवेद्यते तत्त्रपास्पदं स्यादबलाजनस्य ।
यतेर्न गोप्यं किमपीति हार्दं निवेद्यमानंश्रृणु सर्वथा मे ॥४६॥

"हे मुनि ! अभी जो निवेदन करना है वह स्त्रियों के लिए लज्जास्पद है। यति से तो हृदय की कोई भी बात छिपी नहीं रहती। सभी तरह मेरा निवेदन सुनें"।४६

स्मितं विधायाथ यतिर्जगाद शुभे ! गिरं स्वांश्रमयस्यलं त्वम् ।
त्वदीयभावो विदितो मयैतद्योगप्रभावादखिलः कृशाङ्गि ! ॥४७॥

इसके बाद मुनि ने कुछ हँस कर कहा—"शुभे ! तुम अपनी वाणी को व्यर्थ परिश्रान्त कर रही हो । कृशाङ्गी ! इस योग के प्रभाव से तुम्हारा सारा भाव मैंने जान लिया है ॥४७॥

त्वया कदाचित्प्रणयी प्रणम्रो विमानितः प्रेमरसानभिज्ञे ! ।
सोऽपि प्रतिज्ञां सहसा व्यधत्त 'चिरं तदास्यं न विलोकयिष्ये' ॥४८॥

"प्रेमरस के अनभिज्ञ ! कभी तुमने अपने विनम्र प्रेमी को अपमानित कर दिया है और उस प्रेमी ने भी 'बहुत दिनों तक तुम्हारा मुँह नहीं देखूँगा'—सहसा ऐसी प्रतिज्ञा कर ली है" ॥४८॥

निगद्य तूष्णीमिति संस्थितेऽथो यतौ, प्रवाताहतवल्लरीव ।
न्यपातयत्स्वेदमिषेण वामा प्रवेपमाना कुसुमान्यभीक्ष्णम् ॥४९॥

कह कर यति के चुप हो जाने पर वह टूटी हुई लता-सी गिर गयी और काँपती हुई उस सुन्दरी ने पसीने के व्याज से बहुत देर तक फूलों को गिराया ॥४९॥

निरुद्धवाक् चापि जगाद सर्वं हृदिस्थभावं परिशुष्यदास्या ।
वर्णैः स्वनेत्रोद्भववारिमिश्राञ्जनच्छलैश्चित्रकरी विचित्रा ॥५०॥

मुँह सूख जाने के कारण नहीं बोल सकने पर भी अपनी आँखों से निकला हुआ पानी मिश्रित अञ्जन के छल से वर्णों से विचित्र चित्र बनाने वाली (चित्रकारिणी राधिका) ने हृदय के सारे भावों को व्यक्त कर दिया ॥५०॥

ततो मुरारिर्यतिरूपधारी दयापरः प्रेमभरो जगाद ।
मा मा ऽबले ! स्वं परिखेदयस्व तवाभिलाषं खलु पूरयिष्ये ॥५१॥

तब दयालु अतिशय प्रेमी यति के रूप धारण करने वाले मुरारि ने कहा—"अबले ! अपने को दुःखी मत बनाओ । मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा" ॥५१॥

प्रभोऽधुना मच्छरणं त्वमेव व्रजेश्वरो मां दयतां यथैव ।
तथाविधेहीति निगद्य राधा पपात पादाब्जयुगे तदीये ॥५२॥

"हे प्रभु ! आप ही मेरे शरण हैं । जिस प्रकार ब्रजेश्वर (कृष्ण) मेरे ऊपर दया करें, वही उपाय आप करें"—यह कह कर राधा उनके दोनों चरणों पर गिर गयीं ५२

स्मितस्ततो योगिवरो जगाद दिनं कथञ्चिद्गमयस्व भद्रे ! ।
सायं निकुञ्जे निजजीवितेशं तत्रैव द्रक्ष्यस्ययि वामनेत्रे ! ॥५३॥

तब योगिराज कुछ हँस कर बोले—"भद्रे ! किसी प्रकार दिन बिताओ । ऐ सुन्दर नयनों वाली ! शाम को उसी निकुञ्ज में अपने प्राणेश को देखोगी" ॥५३॥

इत्थं समाश्वस्य यतिर्जगाम नीत्वा कथञ्चिद्दिवसं च राधा ।
सायं समासज्य जलानयस्य व्याजेन कुञ्जाभिमुखं चचाल ।।५४।।

इस तरह सान्त्वना दे कर योगिराज चले गये। राधा किसी तरह दिन बिता-कर शाम को पानी लाने के बहाने तैयार हो कर उसी कुञ्ज की ओर चलीं ।५४।

तत्रैव काञ्चिन्नवयौवनाढ्यां लसद्दुकूलां स्मितशोभिवक्त्राम् ।
श्यामाङ्गकान्तिं वलयादिभूषां ददर्श मालाकृतमाव्रजन्तीम् ।।५५।।

वहीं पर नयी जवानी से सुशोभित, वस्त्रों से शोभायमान, कुछ मुस्कुराने के कारण सुन्दर मुख वाली, अङ्ग के श्याम कान्त वाली, वलय आदि भूषण पहनी आती हुई किसी मालिन को उन्होंने (राधा ने) देखा ।५५।

विलोक्य तां किञ्चिदिहैजमाना निवेदिता भूत्वरितं तयैव ।
"यतेर्निदेशादहमागताऽत्र वद प्रिये ! किं करवाणि तेऽद्य ।।५६।।

उसे देख कुछ काँपती-सी राधा से वह शीघ्र बोली—"योगिराज के आदेश से मैं यहाँ आयी हूँ। प्रिये ! बोलो, आज मैं तुम्हारा कौन-सा काम करूँ ? ।।५६।।

त्वदर्थमेतानि च भूषणानि सपत्रपुष्पैरचितानि सम्यक् ।
यथा प्रदेशं विनिवेशयामि यतः प्रियस्ते समुपास्यतीह" ।।५७।।

"तुम्हारे लिए पत्र के साथ फूलों से अच्छी तरह बनाये हुए ये भूषण ठीक जगह पर पहनाती हूँ, क्योंकि तुम्हारे प्रिय यहाँ आयेंगे" ।५७।

निजाभिधानप्रचुराणि तानि विलोक्य राधा प्रससाद सम्यक् ।
सकौतुकं तन्मुखमीक्षते स्म तदैव सा भूषयितुं प्रसक्ता ।।५८।।

वैसे भूषणों को देख कर, जिनमें उनका (राधा का) नाम अनेक प्रकार से अंकित था, राधा बहुत खुश हुईं। जब वह (मालिन) उन्हें सजाने लगी, तब राधा ने आश्चर्य से उसके मुँह को देखा ।५८।

तत्पाणिसम्पर्कमवाप्य तन्वी सकण्टका स्वेदवती बभूव ।
तदीय हस्ताच्छिथिलाच्च पुष्पविभूषणं भूमितले पपात ।।५९।।

तन्वङ्गी राधा उसके हाथ का स्पर्श पा कर रोमाञ्चित और स्वेदयुक्त हो गयीं और उसके (मालिन के) शिथिल हाथ से पुष्प-भूषण जमीन पर गिर गये ।५९।

किमित्थमेतत्परितर्कयन्ती समीक्ष्य सम्यक च विलज्जमाना ।
विहाय वामोचितवेशभूषां समालिलिङ्गे हरिणो कृशाङ्गी ।।६०।।

"यह क्या ?"—ऐसा सोचती हुई, अच्छी तरह देख कर अत्यन्त लज्जित वह कृशाङ्गी स्त्रियोचित अपनी वेश-भूषा को त्यागे गये हरि से आलिङ्गित हुई ।।६०।।

इति मानिनी राधिका ।

श्रीसीताप्रादुर्भावम्

शक्तिः परा ध्यान परा कदाचिद् व्यचिन्तयच्चेतसि दिव्यलोके ।
सृष्टौ निजायां जनताः समस्ताः कीदृग्दशायामधुना चरन्ति ॥१॥

किसी समय दिव्यलोक में ध्यान लगा कर बैठी हुई पराशक्ति ने मन में सोचा— अपनी सृष्टि में सारी जनता इस समय किस दशा में चल रही हैं ? ॥१॥

स्वर्गस्थिता इन्द्रमुखाः सुरास्ते कथं नु दीना इव दृश्यमाना ।
प्रायेण त्यक्तस्वनिकेतनाश्च क्षीणाश्च चिन्ताकुल मानसाश्च ॥२॥

स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र आदि देव दीन की तरह क्यों दीखते हैं ? वे लोग अपने स्थानों को प्रायः छोड़े हुए हैं, क्षीण हो रहे हैं और उनका मन चिन्ताकुल है ॥२॥

यत्रत्य भूपा दिवि देवतानां साहाय्यदानं विदधुः पुरा वै ।
ते क्षीणसत्त्वा इव साम्प्रतं किं स्वभारतं स्वर्ग समं न पान्ति ॥३॥

जहाँ के राजा लोग पहले देवताओं की सहायता करने के लिए स्वर्ग में जाते थे, वे इस समय बलहीन हो कर स्वर्गतुल्य अपने भारत की रक्षा भी नहीं कर पा रहे हैं।३

ईदृग्दशा चेदमरेश्वराणां मर्त्या कथं साम्प्रतिकाभवेयुः ।
तेषां दशां हीनतरामवेक्ष्य किञ्चिच्चिकीर्षुर्मतिमादधेऽजा ॥४॥

यदि स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की ही दशा ऐसी है तो मनुष्य लोग कैसे होंगे ? इस प्रकार उनकी अत्यन्त हीन दशा देख कर कुछ करने की इच्छा से पराशक्ति ने सोचा (अपनी बुद्धि लगायी)— ॥४॥

त्रेतायुगस्यास्ति चतुर्थपादो निशाचरा रावणबाहु गुप्ताः ।
कुर्वन्ति सर्वत्र जनेषु पीडां, तपश्विनश्चापि विविग्न चित्ताः ॥५॥

"अभी त्रेता युग का चौथा चरण है। रावण की भुजाओं से रक्षित राक्षस लोग सर्वत्र मनुष्यों में पीड़ा पहुँचा रहे हैं और तपस्वी लोग भी उद्विग्न चित्त हो रहे हैं।५।

साधारणो नैव जनेषु कश्चिन्निशाचरेशोऽस्ति महा तपस्वी ।
भक्त्या स्वया रूद्रमपि प्रतोष्य शक्ति परां प्राप प्रमोदते च ॥६॥

"महा तपस्वी राक्षसराज (रावण) मानवों में साधारण नहीं है। अपनी भक्ति से रूद्र (शिव) को भी प्रसन्न करके उसने बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त कर ली है और वह आनन्द से समय बिताता है ॥६॥

ईदृक् कथं नैव भवेत्सु वीरो हरेः प्रधानः खलु द्वारपेषु ।
ऋषि प्रकोपेन निशाचरोऽभूदुद्धारकालः समुपस्थितोऽस्य ॥७॥

"ऐसा वीर वह क्यों नहीं हो जब कि भगवान् के द्वारपालों में वह प्रधान है ? वह तो ऋषियों के शाप से राक्षस हुआ है। अब उसके उद्धार का समय आ गया है ।७।

स्वयं महाविष्णुरमुं स्व लोकं सं प्रापयिष्यन् मनुजेषु कश्चित् ।
रामाभिधानो भविता नृलोके श्रीभारते दाशरथिः प्रसिद्धः ॥८॥

"मनुष्य लोक के सम्पन्न भारत देश में स्वयं महाविष्णु दशरथ के पुत्र बन कर राम के नाम से प्रसिद्ध हो कर उस रावण को अपने लोक में ले जायेंगे ॥८॥

साहाय्यदानाय ममापि तस्य कर्तव्यमस्तीति विचार्यतेऽत्र ।
न मद्विना क्वाप्यभवत्कदापि परात्परस्यास्य सुपूर्णसिद्धिः ॥९॥

"यहाँ पर यह विचार आता है कि उनकी सहायता देने का मेरा भी कुछ कर्त्तव्य है । यद्यपि वह (विष्णु) महान् से भी महान् हैं तथापि मेरे बिना कहीं भी और कभी भी उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली ॥९॥

तपोबलं यादृशमस्ति तस्य भक्तिः परा चापि महेशपादे ।
पराजयः क्वापि कुतो भवेच्छ्री निशाचरेशस्य तपस्विनोऽस्य ॥१०॥

"उसका वैसा तपस्या बल है और शिवजी के चरणों में उसकी वैसी भक्ति है कि उस तपस्वी श्री राक्षसराज की पराजय कहीं पर भी कैसे हो सकती है ? ।१०।

अहं जनुर्भूमितले दधेपि क्षेत्रं न मद्योग्यतमं निरीक्षे ।
महाधिकं तद्रुधिरं मदीय शरीरयोग्यं रुचिरं पवित्रम् ॥११॥

"यदि मैं भूमि पर जन्म लूँ भी तो उसके लिए अत्यन्त योग्य क्षेत्र नहीं देखती हूँ । सबसे बढ़ कर उनका निर्मल और पवित्र रक्त ही मेरे शरीर के योग्य होगा।११

कष्टं त्ववश्यं भविता मुनीनां कृच्छ्राय ते सं दधते शरीरम् ।
तपोधनानां कररक्त दाने निशाचराणां हृदि प्रेरयामि ॥१२॥

"इसमें मुनियों को कष्ट तो अवश्य होगा, परन्तु कष्ट के लिए ही तो वे शरीर धारण करते हैं । अतः तपस्वियों का रक्त कर (टैक्स) के रूप में देने के लिए निशाचरों के हृदय में प्रेरणा देती हूँ ॥१२॥

निशाचरा रावण सभ्यरूपाः कदाचिदागत्य सभान्तराले ।
प्रस्तावमेनं रुधिरप्रियास्ते संस्थापयामासुरति प्रमोदात् ॥१३॥

रावण-सभा के सदस्य रूप रक्तप्रेमी राक्षस लोगों ने किसी समय आ कर अत्यन्त हर्ष के साथ इस प्रस्ताव को सभा के बीच में रखा ॥१३॥

अङ्गीकृते तत्र निशाचरेशास्तत्कार्य साफल्यनिदेश भाजः ।
तपोवनं संविविशुः प्रहर्षात् समानयँश्चापिघटं सुपूर्णम् ॥१४॥

इसे स्वीकृत हो जाने के बाद आदेश पा कर राक्षस लोग अत्यन्त आनन्द के साथ तपोवन में घुसे और रक्त से सुपूर्ण घड़ा ले आये ॥१४॥

कश्चिन्महा दिव्यवपुः समायात् विलोक्य कुम्भं मुनिरक्तपूर्णम् ।
उवाच मध्ये पिशिताशनानां न रक्षणीयः सुसमृद्धदेशे ॥१५॥

(उसी समय) कोई महा तेजस्वी पुरुप वहाँ पहुँचे और मुनियों के रक्त से पूर्ण

घड़ा को देख राक्षसों के बीच बोले—"इस सम्पन्न देश में इसे नहीं रहना चाहिए ।१५

यत्क्षेत्रमध्ये स्थितिरस्य नूनं शीघ्रं हितस्यास्ति विनाश योगः ।
अतोयमन्यत्र विसर्जनीयः कल्याण मेतेन भविष्यतीह ॥१६॥

यह जिस क्षेत्र में रहेगा उसका शीघ्र ही विनाश का योग है। अतः इसे दूसरी जगह भेजवा देना चाहिए। इसी से यहाँ कल्याण होगा" ॥१६॥

निगद्यचेत्थं नयनाभिरामो गतोऽन्यतस्तत्पुरतस्तदानीम् ।
सरक्तकुम्भश्च विदेह राज्ये संस्थापितो भारतपुण्यदेशे ॥१७॥

ऐसा कह कर वह दिव्य पुरुष जब कहीं चले गये तब उस रक्त-कुम्भ को पवित्र भारत देश के जनक के राज्य में रखवा दिया गया ॥१७॥

तदाभवत्तत्र महोपतापो दुर्भिक्षमुग्रं पतितं च तत्र ।
अवर्षणं घोरतरं च जातं दृष्ट्वेति चिन्ताकुलितो विदेहः ॥१८॥

उसके बाद वहाँ लोगों को अत्यन्त कष्ट होने लगा, भयंकर अकाल पड़ा और घोर अवर्षण हुआ। यह देख जनक चिन्ताकुल हो गये ॥१८॥

तच्छान्ति हेतोरकरोत्क्रतुं स यस्मिन् हलेनावनिकर्षणं वै ।
विधीयते तद्विहितं विधानं सीराग्रतोऽजायत शक्तिराद्या ॥१९॥

उसकी शान्ति के लिए उन्होंने एक यज्ञ किया, जिसमें हल से भूमि जोतनी पड़ती है। जो विधान था, सब किया गया। हल की नोक से आदिशक्ति पैदा हुई ॥१९॥

सीताभिधाना भुवि सा प्रसिद्धा रामाभिधानेन च विष्णुनाऽथ ।
विवाहिता लोक हिताय पश्चाद् वनं गता स्वामियुता सहर्षा ॥२०॥

वह सीता नाम से संसार में प्रसिद्ध हुई और राम नाम से प्रसिद्ध विष्णु के साथ उनका विवाह हुआ। बाद वह लोक-हित के लिए अपने स्वामी के साथ प्रसन्नता पूर्वक जङ्गल गयीं ॥२०॥

वने घने दण्डक नामधेये रम्यस्थले भूधर चित्रकूटे ।
सभ्रातृ कान्तेन समं निवासं किञ्चिच्चिकीर्षुर्विदधेऽल्पकालम् ।२१।

(आगे कुछ लीला करने की इच्छा से) उन्होंने दण्डक नामक घने वन में आनन्द-दायक चित्रकूट पर्वत पर अपने स्वामी के साथ, जिनके साथ उनके भाई (लक्ष्मण) भी थे, थोड़े समय तक निवास किया ॥२१॥

तत्रागता सूर्पणखाभिधाना स्वसा सुरूपा खलु रावणस्य ।
रामं वरीतुं कलहांकुरा सा गता स्वगेहं त्वरितं विनासा ॥२२॥

सूर्पनखा नामक रावण की परम सुन्दरी बहन राम के साथ विवाह का प्रस्ताव ले कर वहाँ आयी और कलह के अङ्कुररूप वह शीघ्र ही नाक कटवा कर अपना घर चली गयी ॥२२॥

दशां स्वकीया खरदूषणाख्य स्वभ्रातरौ साऽकथयद्विपन्ना ।
तौ चापि रामेण समं नियोद्धुं दृप्तौ स सैन्यौ ययतुर्हतौ च ॥२३॥

विपन्नावस्था में उसने खर और दूषण नामक दोनों भाइयों से अपनी वर्तमान दुर्दशा को कहा। दोनों मतवाले अपनी सेनाओं के साथ राम से युद्ध करने के लिए गये और मारे गये ॥२३॥

सा रावणस्याथ गता समीपे वाचालवर्गे प्रथमाभिधाना ।
उत्तेजनावर्द्धकवाक्यमूचे दीनापि खिन्नापि च सस्मितैव ॥२४॥

अत्यन्त अंट-संट बोलनेवालियों में प्रथम स्थान रखने वाली वह (सूर्पनखा) रावण के निकट गई। यद्यपि वह दुःखी एवं खिन्न थी तथापि मुस्कुराती हुई उत्तेजनावर्द्धक वचन बोली—॥२४॥

सीता सुरूपा विपिनेऽस्ति काचिद् रामाभिधानस्य नरस्य पत्नी ।
रत्नाकरस्यासि पतिस्त्वमेव स्त्रीरत्नमेकां विजहासि किं ताम् ? ।२५।

"राम नामक किसी मनुष्य की सीता नाम की पत्नी जङ्गल में है। संसार में जितने रत्न हैं उन सब के स्वामी इस समय तुम्हीं हो। फिर स्त्रियों में रत्नमात्र उसे (सीता को) क्यों छोड़े हुए हो ? ॥२५॥

दधासि नेत्राणि बहून्य मूनि नैकेन केनापि निरीक्षसे माम् ।
मद्दुर्दशैषा यदि ते समक्षं भ्रातः कमन्यं शरणं प्रपद्ये ॥२६॥

(सामने अंगुली दिखा कर कहती है) "अनेक नेत्र धारण करके भी तुम एक आँख से भी मुझे नहीं देखते। यदि तुम्हारे सामने (नाक दिखा कर) मेरी यह दुर्दशा हो तो (रो कर) भैया ! मैं किस दूसरे की शरण लूँ ?" ॥२६॥

विबोध्य तस्यां बहुशो गतायां निशाचरेशश्छलमाश्रितोऽथ ।
अजीगमद् राम समीपमेकं दूतं निजं स्वर्णमृगं विधाय ॥२७॥

बहुत समझा-बुझा कर उसे भेज कर रावण ने कपट का आश्रय ले सोने के हरिण-सा रूप धारण किये हुए अपने एक दूत को राम के पास भेजा ॥२७॥

विलोक्य सीता हरिणं विचित्रं ज्ञात्वा रहस्यं सकलं च तस्य ।
आनेतुमेनं विपिनं पतिं सा सं प्रैषयत्तस्य ततोऽनुजं च ॥२८॥

(अपने आश्रम में राम के साथ बैठी हुई) सीता ने उस विचित्र हरिण को देख तथा उसका सारा रहस्य जान कर पहले रामजी को और बाद में उनके छोटे भाई लक्ष्मण जी को उस हरिण को लाने के लिए जङ्गल में भेजा ॥२८॥

विविक्तमालोक्य निशाचरेशो सीतान्वितं रामनिकेतनं तत् ।
तपस्विवेषेण समाजगाम तां वीक्ष्य किञ्चित् स्मृतवाँस्तदानीम् ॥२९॥

केवल सीता सहित घर को सूना देख तपस्वी के रूप में रावण वहाँ पहुँचा। उन्हें (सीता को) देख कर उसने उस समय कुछ स्मरण किया—२९

इयं हि सा मे जननीव भाति मन्मुक्तिकामावततार भूमौ ।
निश्चित्यमेतन्मनसा तपस्वी स रावणस्तन्नमनं चकार ॥३०॥

"यह तो निश्चय ही मेरी माता जैसी देखती हैं। मेरी मुक्ति की इच्छा से भूमि पर अवतरित हुई हैं"—ऐसा निश्चय करके उस तपस्वी रावण ने उन्हें (सीता को) मन-ही-मन प्रणाम किया ॥३०॥

रूपं स्वकीयं प्रकटय्य तत्र दिव्यं रथं चापि निवेश्य भक्त्या ।
स्वां राजधानीमनयत्स लङ्कां न्यवासयत्तत्र सुरम्य कुञ्जे ॥३१॥

तब वह रावण अपना रूप प्रकट कर (जिसमें सीता को किसी अन्य का भ्रम न हो) दिव्य रथ पर सीता को भक्ति के साथ बैठा कर अपनी राजधानी लङ्का ले गया और उसने उन्हें (सीता को) एक सुन्दर कुञ्ज में रखा ॥३१॥

निवृत्य रामोऽथ निजाश्रमं तं विलोक्य शून्यं मनुजत्वमाप्य ।
रुदन् समन्विष्य समन्ततस्तां ऋष्यादिमूकान्तमगच्छदद्रिम् ॥३२॥

अपना आश्रम लौट कर तथा उसे सूना पा कर रामजी ने मनुष्यता धारण कर ली और रो-रो कर सीता को इधर-उधर ढूंढते हुए ऋष्यमूक पर्वत पर वह पहुँचे।३२

स्वभक्तमुख्यं हनुमन्तमत्र ददर्श तेनैव महाद्रिमध्ये ।
सुग्रीव सख्यं विदधे स रामस्तत्रावसन्मासचतुष्टयं च ॥३३॥

वहीं पर राम ने अपने भक्तों में प्रधान हनुमान को देखा । उन्हीं के द्वारा उस महापर्वत के बीच में सुग्रीव से उन्होंने पवित्र मित्रता की और चार महीने तक वहीं पर वास किया ॥३३॥

श्रीशारदीयं च महं विलोक्य समागतं तत्र वसन् विविग्नः ।
व्यचिन्तयत् किञ्चिदसौ स्वचित्ते शक्त्या वियोगो मम वर्ततेऽद्य ।३४।

वहीं रहते हुए उन्होंने (राम ने) श्रीशारदीय उत्सव को आता देख व्याकुल हो कर मन में कुछ सोचा—"इस समय अपनी शक्ति से मेरा वियोग है ॥३४॥

असौ पुराराधनपुण्यरूपं देव्याः प्रसादेन च पुष्पितं तत् ।
फलं प्रहर्षा लभतानुकूलं मां प्राप, सोऽयं हि ममापि मार्गः ॥३५॥

"देवी की कृपा से पुष्पित सीता के आराधनारूप पुण्य के मनोनुकूल फलस्वरूप सीता ने मुझे प्राप्त किया था। मेरा भी रास्ता निश्चित रूप से वही है" ॥३५॥

अन्वेषणार्थं च निज प्रियायाः प्रास्थापयं वानरराज सैन्यम् ।
स्थितिं तदीयामथ तेन लेभे महस्तदायान्नवरात्र संज्ञः ॥३६॥

शीघ्र ही अपनी प्रिया को ढूंढ़ने के लिए उन्होंने वानर राज की सेना को भेजा। उन्ही से सीता की स्थिति का पता मिला। बाद नवरात्र-उत्सव आ गया ॥३६॥

व्रतं स चक्रे नवरात्र रूपं दैनं दिनं तत्र सपर्हणं च ।
ततो दशम्यां विजयाभिधायां समाप्य कृत्यं सबलः प्रतस्थे ॥३७॥

राम ने वहाँ पर नवरात्र-व्रत किया और प्रतिदिन पूजन किया तथा दशमी को सारा कृत्य समाप्त कर सेना के साथ (विजय के लिए) प्रस्थान कर दिया ।।३७।।

यदा स लङ्काभिमुखं चचाल सार्धं हरीणां महता बलेन ।
द्रुतं समायादथमार्गरोधी महोर्मिमाली मकरालयश्च ।।३८।।

जब रामजी वानरों की बड़ी सेना के साथ लङ्का की ओर चले तो शीघ्र ही मगर (भयंकर हिंसक जल-जन्तु) से भरा हुआ बड़ी-बड़ी तरङ्गों वाला समुद्र रास्ता रोकने के लिए पहुँच गया ।।३८।।

सीता सदा स्वामि पदारविन्द ध्याने निमग्ना हृदये ददर्श ।
पारं विधातुं विदधत्प्रयत्नं रामः ससैन्योऽस्ति समुद्रतीरे ।।३९।।

सदा स्वामी राम के चरणकमलों के ध्यान में मग्न सीता ने अपने हृदय में देखा कि समुद्र पार करने का प्रयास करते हुए राम सेना के साथ समुद्र के किनारे हैं ।३९

मदीय साहाय्यमपेक्ष्यतेऽत्र विचित्रता चापि विधीयतेऽद्य ।
प्रियस्य कार्यं च यशो हरीणां बन्धः समुद्रस्य सुदुर्गमस्य ।।४०।।

यहाँ पर मेरी सहायता की अपेक्षा है। आज कुछ आश्चर्यजनक कार्य करना है जिससे मेरे प्यारे (स्वामी) का कार्य, वानरों का यश एवं अत्यन्त दुर्गम समुद्र का बन्धन होगा ।।४०।।

पाषाण खण्डानि महान्ति पश्चात् क्षेप्तुं समुद्रे हृदये हरीणाम् ।
उत्साह आयात्त्वरितं तदैव प्रारेभिरे कर्तुमलं ततस्ते ।।४१।।

बाद में वानरों के हृदय में समुद्र में बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े डालने का उत्साह आ गया और तुरन्त उन लोगों ने वह काम करना प्रारम्भ कर दिया ।।४१।।

चतुः शतक्रोश समुद्रमध्ये कियद्दिनैरेव बभूव सेतुः ।
विना परेच्छां न विचित्रमेतत् सम्पद्यते कार्यमभूतपूर्वम् ।।४२।।

चार सौ कोस के समुद्र के बीच कुछ ही दिनों में बाँध तैयार हो गया। पराशक्ति की इच्छा के बिना यह आश्चर्यजनक एवं अभूतपूर्व कार्य नहीं होता ।।४२।।

तेनैव गत्वा सह लक्ष्मणेन समुद्रपारं विततेथकूले ।
सैन्यं स रामः सुमहत् कपीनां न्यवासयद्रावण पुः समीपे ।।४३।।

उसी सेतु के सहारे लक्ष्मण के साथ समुद्र के पार जा कर उसी के विस्तृत किनारे पर रावण की नगरी के पास ही वानरों की बड़ी सेना को राम ने स्थापित किया ४३

श्रुत्वा च दृष्ट्वा च बलं कपीनां रामाश्रितानां रजनीश्वरोऽसौ ।
स्वमन्त्रिमध्ये स्थित आजहास दुःसाहसं पश्यत चेत्युवाच ।।४४।।

अपने मन्त्रियों के बीच बैठा हुआ वह रावण राम के आश्रित वानरों की बड़ी सेना को सुन और देख कर जोरों से हँसा तथा बोला—"यह दुःसाहस तो देखो! ४४

ये भक्ष्यभूताः पिशिताशनानां हीना मनुष्या अपि वानराश्च ।
दीपे पतङ्गा इव ते समायुः स्वयं समीपे मम युद्धकामाः ।।४५।।

"जिस प्रकार पतङ्गे दीपक के पास पहुँच जाते हैं उसी प्रकार नीच नर और वानर, जो राक्षसों के भोजन हैं, युद्ध की कामना से स्वयं मेरे सामने पहुँच गये हैं४५

यस्मिन् प्रकोपं कुरुते विधाता मतिं पुरा नाशयते ध्रुवं सः ।
ततः कुठारेण करोति घातं पदि स्वकीये निजपाणिना सः ॥४६॥

"विधाता जिस पर क्रोध करते हैं उसकी बुद्धि वह पहले ही नष्ट कर देते हैं। फिर वह अपने ही हाथों से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारता है ॥४६॥

भ्राता मदीयः खलु कुम्भकर्णश्चेज्जागरिष्यत्यचिरेण वीरः ।
अल्पाशनं तस्य समस्तमेतत् ध्रुवं भवेदेष जहास भूयः ॥४७॥

"यदि मेरा भाई कुम्भकर्ण शीघ्र ही जाग गया तो ये सब नर-वानर उसके नाश्ता हो जायेंगे"—यह कह कर वह (रावण) पुनः हँसा ॥४७॥

सभासदास्तस्य महाभिमाना निशाचरास्तद्वचनं सहर्षम् ।
समर्थयन्तः परिपुष्टिपूर्वं प्रोत्साहितं चक्रुरमुं नियोद्धुम् ॥४८॥

पुष्टिपूर्वक उसकी बातों का समर्थन करते हुए बड़े अभिमानी राक्षस-सभासदों ने युद्ध के लिए उसे प्रोत्साहित किया ॥४८॥

उद्धारकालोऽयमुपस्थितो मे न युज्यते कर्तुमलं विलम्बम् ।
रामेण युध्वा पुरतो ममैव स्वः प्रेषयाम्यद्य निजाप्तवर्गान् ॥४९॥

(रावण ने सोचा—) "मेरे उद्धार का समय आ गया है। अब विलम्ब करना उचित नहीं है। राम के साथ युद्ध करके अपने ही सामने अपने लोगों को स्वर्ग भेज देता हूँ ॥४९॥

पश्चादहं युद्धकलां प्रदर्श्य रामं, तदीयेन शरेण भिन्नः ।
यास्यामि दिव्यां नगरीं तदीयां लप्स्ये सुशान्तिं समयं च कञ्चित् ।५०।

"बाद राम को अपनी युद्धकला दिखला कर उन्हीं के बाणों से क्षत-विक्षत हो मैं उनकी दिव्य नगरी में जाऊँगा और कुछ समय तक अच्छी शान्ति प्राप्त करूँगा ५०

पुनस्तृतीयं च जनुः पृथिव्यां धृत्वा मनुष्येषु महाबलिष्ठः ।
कृत्वा वशे तत्र समस्त देशान् लप्स्ये पुनः स्थायिपदं स्वकीयम् ।५१॥

"फिर तीसरे जन्म में महा बलिष्ठ हो पृथ्वी पर मनुष्यों के बीच जन्म धारण कर और वहाँ समस्त देश को वश में करके पुनः स्थायी रूप से अपना पद प्राप्त करूँगा" ॥५१॥

एवं विनिश्चित्य महाबलेन साकं प्रतस्थौ समराङ्गणेऽसौ ।
बलं तदीयं सकलं विनष्टं सौमित्रिणा वानर पुंगवैश्च ॥५२॥

ऐसा निश्चय करके बहुत बड़ी सेना के साथ रावण युद्ध के मैदान की ओर प्रस्थान किया, किन्तु लक्ष्मण तथा बड़े-बड़े वानरों द्वारा उसकी सारी सेना नष्ट हो गयी५२

रामं स्वकं वीक्ष्य प्रभुं समक्षं चतुर्भुजं शङ्खगदादि हस्तम् ।
पीताम्बरं पद्मविशाल नेत्रं श्रीवत्सचिह्नं मनसा ननाम ।।५३।।

(बाद) सामने चार भुजा वाले, हाथों में शङ्खादि (शंख, चक्र, गदा और पद्म) धारण किये, पीताम्बर पहने, कमल के समान विशाल नेत्र वाले, श्रीवत्स चिह्नधारी अपने प्रभु राम को देख कर रावण ने मन-ही-मन उन्हें प्रणाम किया ।।५३।।

पुनश्च तं प्रैक्षत वीरवेषं नराकृति बाणधनुर्निषङ्गम् ।
समुद्यतं तत्र महाहवाय क्रोधाति ताम्राक्षिमुखं करालम् ।।५४।।

फिर उसने देखा कि वह (राम) मनुष्य की आकृति में, वीरों के वेश में धनुष-बाण-तर्कश धारण किये, अत्यन्त क्रोध से आँख-मुँह लाल किये हुए भयंकर रूप बना कर वहाँ पर युद्ध के लिए तैयार हैं ।।५४।।

अशेष लोकाति भयंकरं स्वं प्रदर्श्य रामं रणकौशलं सः ।
तत्रापतच्छिन्न समस्त गात्रः प्रभुर्विलोक्याथ ततो निवृत्तः ।।५५।।

सामान्य लोकवासियों को भय देने वाला अपना युद्ध-कौशल राम को दिखला कर तथा उनके बाणों से छिन्न-भिन्न शरीर हो रावण वहीं गिर गया। बाद उसे वैसा देख राम वहाँ से लौट गये ।।५५।।

सं प्रैषयल्लक्ष्मणमाशु रामो दशास्यपार्श्वे नय शिक्षणार्थम् ।
स वीरवेषेण ययौ समीपे उवाच किञ्चिन्न निशाचरेशः ।।५६।।

राम ने शीघ्र ही नीति सीखने के लिए लक्ष्मण को रावण के पास भेजा । वह वीर-वेश में रावण के पास गये । वह (रावण) कुछ नहीं बोला ।।५६।।

अथाग्रजादेशपरायणोऽसौ सौमित्रिरायात्त्वरितं व्रतीव ।
स्मित्वा दशास्योऽवददागतं तं नानल्पकालोऽस्ति घदामि किं तत् ।५७।

अपने बड़े भाई के आज्ञाकारी लक्ष्मण शीघ्र ही ब्रह्मचारी (छात्र) के वेश में रावण के पास पहुँचे । रावण मुस्कुरा कर आये हुए लक्ष्मण से बोला—"अब अधिक समय नहीं है; अतः क्या कहूँ ? ।।५७।।

सारं तु नीतेः श्रृणु किञ्चिदेव कार्ये शुभे नैव विलम्बनीयम् ।
अथाऽशुभं नो त्वरितं विधेयं फलं तवाग्रे मम तद्वयस्य ।।५८।।

"नीति का सार कुछ सुन लो–अच्छे काम में देर नहीं करना चाहिए; बुरे काम को शीघ्र नहीं करना चाहिए । हे मित्र ! इन दोनों का फल तुम्हारे सामने है ।।५८।।

भूमेः स्वरन्तं रचयामि नूनं सोपान पङ्क्ति र्न तथा वभूव ।
सीता हृतौ नैव कृता विलम्ब एतन्निगद्यैव जहौ शरीरम् ।।५९।।

"मैंने सोचा था कि भूमि से स्वर्ग तक सीढ़ियाँ लगवा दूँगा । (यह शुभ काम था), नहीं हुआ । सीताजी का हरण करना (अशुभ काम था), इसमें मैंने शीघ्रता कर दी ।"—इतना ही कह कर रावण ने शरीर त्याग दिया ।।५९।।

रामः स्वशक्तिं दयनीय रूपां सीतां समादाय च भक्तवर्य्यैः ।
समं जगामाथ पुरीं स्वकीयां विमान यानेन स राजधानीम् ॥६०॥

राम दयनीयरूप अपनी शक्ति सीता को ले कर मुख्य भक्तों के साथ विमान द्वारा अपनी राजधानी चले गये ॥६०॥

तत्राभिषिक्ता निजराजधान्यां पत्या समं कञ्चन कालमेषा ।
स्थिता प्रजापूजितपादपीठा जाता सगर्भाऽथचकार चिन्ताम् ॥६१॥

(पराशक्ति सीता) पति के साथ अपनी राजधानी में अभिसिक्त हो कुछ काल तक प्रजा से पूजित चरण-चौकी हो कर रहीं । बाद सगर्भावस्था में हो गयीं । तब चिन्ता करने लगीं ॥६१॥

गार्हस्थ्य जालेन विवध्यमाना न दिव्यलोकं व्रजितुं समर्था ।
लोकापवादस्य मिषेण पत्या वाल्मीकि पार्श्वेऽथ निवासिता सा ॥६२॥

गृहस्थी के जाल में बन्ध कर दिव्यलोक जाने में समर्थ नहीं हो सकूँगी । तब लोक-निन्दा के बहाने पति के द्वारा वाल्मीकि मुनि के पास रखवा दी गयीं ॥६२॥

तदाश्रमे तेन सुरक्ष्यमाणा यमौ सुतौ सा सुषुवे वरेण्यौ ।
कुशो लवश्चेति सुनामधेयौ तौपोषितौ योग्यतमौ च जातौ ॥६३॥

वाल्मीकि मुनि के आश्रम में उन्हीं के द्वारा सुरक्षित रह कर सीता ने कुश और लव नामक अतिश्रेष्ठ जुड़वे पुत्र को पैदा किया । वे दोनों वहीं पर पाले गये और अत्यन्त योग्य निकले ॥६३॥

अथैकदा सा मुनिना सुताभ्यां सार्धं गता राघव यज्ञभूमौ ।
दत्त्वा सतीत्वस्य परं प्रमाणं समर्थिता सर्वजनैर्विशुद्धा ॥६४॥

कुछ समय बाद मुनि वाल्मीकि एवं दोनों पुत्रों (लव, कुश) के साथ सीता उस जगह पर गयीं जहाँ रामचन्द्रजी यज्ञ कर रहे थे । वहाँ उन्होंने अपने सतीत्व का पूरा प्रमाण दिया और सबसे विशुद्ध समर्थित हुईं ॥६४॥

अथ सकल जनानां पश्यतां तत्र साध्वी वपुरमलमुपेता दिव्यरूपं दधाना ।
अवनिकुहरमार्गेण प्रयाता स्वधाम जय-जय रव उच्चरुत्थितस्तत्रदीर्घम् ।६५।

साध्वी सीता सभी लोगों द्वारा देखी जाती हुई निर्मल शरीर के साथ दिव्य रूप धारण कर वहीं से पृथ्वी के गर्भ द्वार के मार्ग से अपना धाम चली गयीं । वहाँ पर बहुत जोरों से "जय-जय" की ध्वनि गूञ्ज उठी ॥६५॥

इति श्रीसीताप्रादुर्भावम् ।

श्रीराधाचरितम्

जननी परमा कदाचन भुवने दृष्टिमपारयत्पुरा ।
प्रिय भारतवासिनां दशामवलोक्याथ हृदि व्यचिन्तयत् ॥१॥

पहले किसी समय समस्त जगत् की आदि माता (शक्ति) ने संसार पर दृष्टिपात किया और अपने प्रिय भारतवासियों की दशा देख कर सोचा—॥१॥

नृपनामधरा महाबला अबलापीडनतत्परा सदा ।
विचरन्ति समुद्धता भुवि व्यथितास्तै रक्षणाभिकाङ्क्षिणः ॥२॥

"राजा नामधारी बड़े-बड़े बलवान निर्बलों को पीड़ित करने में तत्पर एवं उद्धत हो पृथ्वी पर घूम रहे हैं और पीड़ित लोग रक्षा चाह रहे हैं ॥२॥

कुहचिन्न जनाः प्रपीडिता अधिगच्छन्ति निजाभिरक्षणम् ।
अवनीं निजमातरं मुहुः प्रणमन्ति स्तुतिमाचरन्ति च ॥३॥

"अत्यन्त पीड़ित लोग कहीं भी अपना त्राण नहीं पा अपनी माता पृथ्वी पर बार-बार झुक कर स्तुति कर रहे हैं ॥३॥

न च केवल दुर्बला जना बलिनः स्वार्थपरायणा अपि ।
स्व समस्य बलाद्धनादिकमपहर्तुं कृतनिश्चया सदा ॥४॥

"केवल दुर्बल ही नहीं, अपितु स्वार्थपरायण बलवान भी अपने सदृशवालों के धन आदि छीनने के लिए सदा दृढ़ संकल्प रहते हैं ॥४॥

कपटं परिपीडनं तथा हननं तस्करणं च लुण्ठनम् ।
कलहश्च परस्परं वचः कटुकं सम्प्रति दृश्यते भुवि ॥५॥

"इस समय पृथ्वी पर कपट, परपीड़न, हत्या, चोरी, लूट, आपसी कलह, वाक्कटुता आदि व्यवहार दीख पड़ते हैं ॥५॥

समयः प्रतिहारपस्य मे परिपूर्णो द्विजशापजस्य च ।
अधुनास्ति महीतले नृपो विदितोऽसौ शिशुपालसंज्ञया ॥६॥

"इस समय ब्राह्मणों के शाप से पैदा होने वाले द्वारपाल का समय पूर्ण हो गया है। अब वह पृथ्वी पर शिशुपाल नाम से प्रसिद्ध राजा होगा ॥६॥

अनुजेन समन्वितस्य तद्धरिरायास्यति तस्य मुक्तये ।
अवनीं, न मया विनाह्यसौ प्रभुरस्तीह तदर्थसिद्धये ॥७॥

"अतः भाई के साथ उसकी मुक्ति के लिए भगवान् विष्णु पृथ्वी पर आयेंगे। मेरे बिना प्रभु उस कार्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हैं ॥७॥

अहमस्मि परात्पराप्यसौ न पृथक् मत् सतु वर्तते विभुः ।
भुवन व्यवहार कारणात् भुविधास्ये जननं पृथक् ततः ॥८॥

"यद्यपि पर से पर तत्त्व मैं ही हूँ, परन्तु वह व्यापक विष्णु भी मुझसे अलग नहीं हैं। सांसारिक व्यवहार के कारण ही पृथ्वी पर उनसे अलग (स्त्री और पुरुष) रूप धारण करूँगी ॥८॥

कतिचिच्च समाः सखीयुता विहरन्ती विपिने सुरम्यके ।
नररूपधृगात्मना सह पुनरेका पुरुषाकृतिः स्थिता ॥९॥

"कुछ समय तक सखी के साथ सुन्दर वन में साथ ही विहार करती हुई पुनः अपनी इच्छा से मैं एक मात्र पुरुष रूप धारण कर रहूँगी ॥९॥

नरलोक निवासिनो जनाः कथयिष्यन्ति हि नन्दनन्दनम् ।
वसुदेव सुतं च मां तदा न रहस्यावगमो भविष्यति ॥१०॥

"तब सांसारिक लोग मुझे नन्दनन्दन कहेंगे, किन्तु बाद में रहस्योद्घाटन हो ने पर मुझे वासुदेव (वसुदेव का पुत्र) कहेंगे ॥१०॥

इह रासविलास हेतवे नरनारी वपुषा यथा स्थिता ।
अपि तत्र पृथक् पृथक् पुनः जनलोके निवसामि कार्यतः ॥११॥

"जैसे यहाँ (इस गोलोक धाम में) स्त्री और पुरुष के शरीर में रहती हूँ वैसे ही मनुष्य लोक में भी अलग-अगल रूप से रहूँगी" ॥११॥

जगतः सकलस्य साक्षिणी मनसीत्थं सुविविच्य सा परा ।
अति पावन पुण्य भूतले सुखदे जन्म दधार भारते ॥१२॥

समस्त संसार के साक्षी रूप पराशक्ति ने मन में ऐसा विचार कर अति पवित्र एवं सुखदायक भारत की भूमि पर जन्म धारण किया ॥१२॥

प्रतिगेहमभून्महोत्सवो बरसाने व्रजमण्डले जनुः ।
शुभ वाद्य सुगीतकस्वनैः परितस्तन्नगरं निनादितम् ॥१३॥

व्रजमण्डल के बरसाना नामक नगर में उस परा शक्ति के जन्म-दिवस पर महान् उत्सव हुआ। सुन्दर बाजे और गीतों की ध्वनि से वह नगर गूंज उठा ॥१३॥

स्वयमुच्चमहीतले दिवा जनुराधत्तनरेतराकृतिः ।
प्रथिता किल सावभूव ह भुवि राधेत्यभिधा महाप्रभा ॥१४॥

उस पराशक्ति ने दिन में उच्च भूमि बरसाने में नारी रूप से जन्म धारण किया और उस महा चमत्कृत भूमि पर राधा नाम से वह प्रसिद्ध हुईं ॥१४॥

तमसावृत दण्डभूगृहे पुरुषाकार वपुर्विनोदकृत् ।
वसुदेव सुतो महाबली प्रबभूवाथ पराऽचिर प्रभा ॥१५॥

बिजली के समान चमकने वाली पराशक्ति कौतुक करने के निमित्त अन्धकार-पूर्ण जेलखाने में पुरुष रूप से वसुदेव जी के महाबली पुत्र के रूप में प्रकट हुईं ॥१५॥

अथ नन्द गृहे स गोकुले महतास्नेहभरेण लालितः ।
जगतां परिपोषकोऽपि सन्नति यत्नान्निभृतं सुपोषितः ॥१६॥

बाद जगत् के भी पालनकर्त्ता (राधारूप कृष्ण) गोकुल में नन्दजी के घर अत्यन्त स्नेह से यत्न पूर्वक छिपा कर पाले-पोसे गये ॥१६॥

शिशु नाश विधायकेन च ननु कंसेन विसर्जिता मुहुः ।
निहता बहवो महाबलाः व्रजनाथेन प्रसिद्धिरस्ति वै ॥१७॥

बच्चों का विनाश करने वाला कंस द्वारा बार-बार भेजे गये अनेक बलशाली राक्षस कृष्ण से मारे गये—यह प्रसिद्ध है ॥१७॥

अथ वत्सबकादि पूतना प्रमुखास्तामसदेह धारिणः ।
कृपया हरिणा विहिंसिता गतिमापुर्जन दुर्लभां शुभाम् ॥१८॥

हरि ने कृपा करके तमोगुणी शरीरधारी वत्स, बक, पूतना आदि प्रमुख दैत्यों को मारा जिसमें उन्हें जनदुर्लभ उत्तम गति प्राप्त हो ॥१८॥

व्रजमण्डलवासिनां मनो निजरूपेण च कर्मणा हरन् ।
अभवत्सुप्रियस्तथा, न तद्धृदये शर्म विनास्य दर्शनात् ॥१९॥

अपने रूप एवं कार्य से व्रजमण्डल में रहने वालों का मन हरण करते हुए कृष्ण इतना प्रिय हो गये कि उनके दर्शन के बिना उनके हृदय में सुख-शान्ति नहीं थी ।१९

भगवानपि लौकिकस्तथा ददृशे येन विशश्वसेन्यथा ।
मघवानपि तेन विग्रहं कृतवान् स्व ऋतुभंग कारणात् ॥२०॥

भगवान् भी वहाँ वैसा सांसारिक दीख पड़े जिसमें कोई विश्वास नहीं करे (कि वह भगवान् हैं) । यज्ञ में बाधा पहुँचाने के कारण इन्द्र ने भी उनका विरोध किया।२०।

व्रजमण्डलमेकदा हरि[1] र्जलमग्नं स विधातुमिच्छया ।
प्रययौ कुपितो घनान्वितः सकलास्तत्र निपीडिता भृशम् ॥२१॥

एक समय इन्द्र कुपित हो कर व्रजमण्डल को जलमग्न करने की इच्छा से मेघों को साथ ले कर व्रज में पहुँचे । वहाँ लोग अत्यन्त पीड़ित हो गये ॥२१॥

व्रजरक्षणतत्परस्तदा विमदं कर्तुमलं सुरेश्वरम् ।
निकटस्थगिरिं सकौतुकी कृतवाँश्छत्रमरक्षयत्स्वकान् ॥२२॥

व्रज की रक्षा करने में तत्पर कौतुकी भगवान् ने इन्द्र को अत्यन्त गर्व रहित करने के लिए निकटवर्त्ती पहाड़ (गोवर्द्धन) को छत्र बना कर अपने लोगों की रक्षा की ।२२

सखिभि सह वत्सकैश्च स वनभोजाय विनिर्गतो हरिः ।
स्वरुचिं परिदर्शयन् मुहुर्बुभुजे तानपि भोजयन् स्वयम् ॥२३॥

कृष्ण सखाओं एवं बछड़ों के साथ वन-भोज के लिए बाहर निकले । अपनी रुचि को बार-बार दिखा कर उन्होंने स्वयं भोजन किया और उन्हें भी कराया ॥२३॥

अवलोक्य विधिर्विमोहितो नकदाप्येष जगत्पतिर्भवेत् ।
मनसीति विचार्य वत्सकानथ बालानपि गह्वरेऽरुधत् ॥२४॥

---

१. इन्द्रः

इस दृश्य को देख ब्रह्मा मोह में पड़ गये कि यह कभी भी भगवान् नहीं हो सकते। मन में ऐसा विचार कर उन्होंने बछड़ों तथा बालकों को पहाड़ की गुफा में बन्द कर दिया ॥२४॥

भगवानवगत्य वैधसं चरितं बालकवत्सरूपधृत् ।
न्यवसद् व्रजमण्डले समां प्रमुदे मातृगवां कमोहकृत् ॥२५॥

ब्रह्मा के चरित को समझ कर भगवान् बालकों तथा बछड़ों का रूप धारण कर एक वर्ष तक उन बालकों की माताएँ एवं गायों के मनोरञ्जन के लिए तथा ब्रह्मा को और भी अधिक मोह में डालने के लिए वहाँ रहे ॥२५॥

पुनरेकदिने विधिर्निजं विपिने कर्म निरीक्षितुं गतः ।
सह बालकवत्सकैर्हरिं विहरन्तं चकितोऽवलोकयन् ॥२६॥

फिर एक दिन ब्रह्मा अपने कर्म को देखने जंगल में गये। वहाँ बालक और बछड़ों के साथ भगवान् को विहार करते देख वह चकित हो गये ॥२६॥

पुनरेत्य स गह्वरे तथा सकलाँस्तानवलोक्य मोहितः ।
अखिलान् हरि रूपिणः पुनस्ततः आलोकयदेकमीश्वरम् ॥२७॥

फिर गुफा में आ कर उन बालकों और बछड़ों को उसी तरह देख कर वह (ब्रह्मा) मोहित हो गये। उसके बाद सभी विष्णुरूप दीख पड़े और बाद केवल भगवान् को उन्होंने देखा ॥२७॥

अवगत्यविधिव्रजेश्वरं जगदेकेशपरात्परं विभुम् ।
चरणाब्जयुगेऽपतन्मुहुः स्तुतिपूर्वं तु भृशं क्षमापयत् ॥२८॥

यह समझ कर कि यही व्रजराज व्यापक जगत् के ईश तथा परब्रह्म हैं और इनसे परे कुछ भी नहीं है, ब्रह्मा ने इनके चरणकमलों पर गिर तथा बार-बार स्तुति कर क्षमा प्रार्थना की ॥२८॥

ऋतुकृद्द्विजदारकान् हरिः कृपयातोष्य प्रदर्श्य चित्रताम् ।
गिरिजार्चक गोपबालिका वसनादानमिषाद तोषयत् ॥२९॥

बाद भगवान् ने यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की स्त्रियों को कृपापूर्वक सन्तुष्ट कर तथा और भी विचित्रताएँ दिखला कर गिरिजा पूजन करने वाली गोपियों को वरदान के बहाने सन्तुष्ट किया ॥२९॥

वृषभानुसुता व्रजेश्वरी रसिका रास परायणा सदा ।
सकलातिमनोरथाऽवगा सह ताभिर्हरिणा ररास सा ॥३०॥

यद्यपि रसिक व्रजेश्वरी राधा (अपने लोक में) सदा रास रचाती रहती हैं, तथापि सब की इच्छा जान कर उन्होंने कृष्ण के साथ रास रचाया ॥३०॥

सकलेष्ट फल प्रदायिनी बहु कृष्णा कृतिकाऽथ राधिका।
अभवच्च तथा ललास सा दिवि देवा अवलोक्य विस्मिताः ॥३१॥

सब को अभीष्ट फल देने वाली राधिका ने अनेक कृष्ण का रूप धारण कर लिया और उन्होंने वैसा रास-विलास किया कि आकाश में स्थित देवगण भी उसे देख आश्चर्य चकित हो गये। ॥३१॥

सततं यदिदं महत्सुखं निज लोकेऽनुभवत्यसौ परम्।
निजभक्तसुरर्षिमानवानपि नार्याकृतिकानदर्शयत् ॥३२॥

यद्यपि वह (राधा) अपने लोक में इस महा सुख का अनुभव निरन्तर करती ही रहती हैं, परन्तु नारीरूप धारण किये हुए अपने भक्त देव, ऋषि एवं मानव को उन्होंने इसे दिखलाया ॥३२॥

विविधाऽद्भुत लीलया स्वकाननुकूला ननुरञ्जयन्त्यथ।
निजमुख्यतमार्थं साधने मतिमाधत्त तथा चकार च ॥३३॥

बाद अनेक अद्भुत लीलाओं द्वारा अपने अनुकूल लोगों का अनुरञ्जन करती हुई अपने मुख्य कार्य की सिद्धि के लिए उन्होंने बुद्धि की तथा कार्य भी किया ॥३३॥

निज धाम समान शर्मदे बरसाने जनकालये स्वयम्।
अवसत्पुरुषाकृति र्ययौ मथुरा कंसगिरा मिषात्ततः ॥३४॥

अपने ही धाम (दिव्य लोक) के समान सुखदायक बरसाने में अपने पिता के घर वह स्वयं रह गयीं और कंस के आह्वान के बहाने पुरुष के रूप में मथुरा चली गयीं।३४

प्रथमं सगणं स्व मातुलं विदितोऽसौ वसुदेवनन्दनः।
विनिहत्य ततोऽपि कार्यतः प्रययौ द्वारवतीं सदासुखाम् ॥३५॥

वसुदेवनन्दन के नाम से प्रसिद्ध हो पहले अपने मामा कंस तथा उनके गणों को उन्होंने मारा। तब कार्यवश वहाँ से भी सदा सुखदायक द्वारका पुरी चली गयीं।३५

निज शक्तिसुरूप रुक्मिणी प्रमुखाः प्रेम परायणाः स्त्रियः।
परिगृह्य विधानतः स्वयं न्यवसत्तत्प्रतिमन्दिरं पृथक् ॥३६॥

अपनी शक्ति स्वरूप रुक्मिणी आदि प्रेम परायणा स्त्रियों के साथ विधि पूर्वक परिणय करके उनके साथ अलग-अलग मकान में (कृष्ण रूप से) रहने लगीं।३६।

निवसन् किल तत्र मानवाकृतिकान् दानवकर्म भूपतीन्।
न्यहनत्समघातयत्तथा लघुभारा वसुधातदाभवत् ॥३७॥

वहाँ पर निवास करते हुए कृष्ण ने मानव रूपधारी दानवकर्म करने वाले राजाओं को मारा और मरवाया जिससे उस समय पृथ्वी का भार कुछ हल्का हुआ ॥३७॥

भगवत्सुकृपावलम्बितः क्रतवे धर्मसुतोयुधिष्ठिरः।
सहयोगनिमित्तमाह्वयत्, ससमाज प्रययौस हस्तिनम् ॥३८॥

हस्तिनम्

भगवत्कृपावलम्बी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने यज्ञ में सहयोग के लिए उन्हें (कृष्ण को) आमन्त्रित किया। अपने सारे समाज के साथ वह हस्तिनापुर गये ॥३८॥

अवगम्य युधिष्ठिरो द्रुतं हरिमायातमुदारमानसः।
नगरीं निजहस्तिनापुरीं सुप्रमोदेन समं न्यवेशयत् ॥३९॥

भगवान् को आया हुआ जान कर उदार हृदय युधिष्ठिर ने बड़े हर्ष के साथ अपनी नगरी हस्तिनापुर में उन्हें शीघ्र प्रवेश कराया ॥३९॥

विधिना परिपूर्णतां गते क्रतुराजे भगवत्कृपावशात्।
सविधे नृप संसदोऽभवत्प्रथमः कोऽर्हणतां गतो नृपः ॥४०॥

भगवान् की कृपा से यज्ञराज विश्वजित यज्ञ की समाप्ति पर राज-समाज के सामने यह विचार आया कि सबसे पहले किसकी पूजा की जाय? ॥४०॥

कृपया खलु यस्य पूरितो क्रतुराजोऽयममु विहाय कः।
प्रथमं तु समर्च्यतां व्रजेदिह कृष्णोऽस्ति स एव तादृशः ॥४१॥

जिनकी कृपा से यह राजयज्ञ पूरा हुआ उन्हें छोड़ कर प्रथम पूजनीय और कौन हो सकता है? वैसा तो यहाँ कृष्ण ही हैं ॥४१॥

ऋषिभिश्च महात्मभिस्तथा नृपवर्यैरपिमित्र बान्धवैः।
प्रथमार्हण योग्यतां गतः सकलैरेव समर्थितो हरिः ॥४२॥

ऋषि, महात्मा, श्रेष्ठ राजा, मित्र-परिवार तथा समस्त लोगों ने इस निर्णय का समर्थन किया कि सर्वप्रथम पूजे जाने की योग्यता कृष्ण में ही है ॥४२॥

शिशुपाल इदं निशम्य तद्वचनं क्रोधविकम्पिताधरः।
काक्षराण्य अवदत् कटुकाक्षरान्यलं व्रजराजं प्रति राजसन्निधौ ॥४३॥

ऐसा वचन सुन शिशुपाल के होठ क्रोध से काँपने लगे और राज-समाज के समक्ष ही कृष्ण के प्रति वह कठोर बोली बोलने लगा ॥४३॥

विहसन् हरिरात्मनिन्दनमपिश्रृण्वन्न जगाद किञ्चन।
निज चक्र सुदर्शनेन स ब्रुवतस्तस्य शिरोह्यपातयत् ॥४४॥

अपनी निन्दा सुन कर भगवान् हँसते रहे; कुछ भी बोले नहीं। अपने सुदर्शन चक्र से उन्होंने बोलते हुए (शिशुपाल) का सिर धड़ से नीचे गिरा दिया ॥४४॥

शिशुपाल शरीरनिर्गतं सकलानामपि पश्यतां महः।
प्रविवेश मुकुन्दमद्भुतं जनित कोऽपि बुबोध नैव तत् ॥४५॥

सब के देखते-देखते शिशुपाल के शरीर से निकला हुआ तेज भगवान् में प्रवेश कर गया। इस आश्चर्यजनक कार्य को कोई भी नहीं समझ सका ॥४५॥

अथ पाण्डुसुतान्निशम्य स धृतराष्ट्रात्मजपीडितान् हरिः।
बहुशोऽपि विबोध्य कौरवान् विरतान् कर्तुमलं न कार्यतः ॥४६॥

बाद में यह सुन कर कि पाण्डु के पुत्र धृतराष्ट्र के पुत्रों से पीड़ित हैं, भगवान् ने कौरवों को बहुत समझाया, परन्तु उन्हें अपने कार्य से वह विमुख नहीं कर सके ४६

उभयो समरं विधाप्य तद्विनिपात्याथ च कौरवान् मृधे ।
अवनेरवतारयद्भरमपि गीतां च जगौ तदन्तरे ॥४७॥

तब उन दोनों के बीच युद्ध करवा कर तथा कौरवों का नाश कर उन्होंने पृथ्वी का भार उतारा । उसी युद्ध के बीच उन्होंने गीता का गान भी किया ।४७।

रवि राहु समागमे तथा कुरु संग्राम महीतले पुनः ।
परितः समुपागता जना मिलितास्तत्र सुहृत्सुबान्धवाः ॥४८॥

एक बार फिर कुरु संग्राम भूमि में उन्होंने सूर्य ग्रहण के समय समागम किया । सभी ओर से पहुँच कर मित्र, परिवार आदि सब एक दूसरे से मिले ॥४८॥

व्रजतश्च समागता जनाः चिरसख्यो वृषभानुजादयः ।
सुहृदोऽपि च हस्तिनापुरात् पृथगावासमकल्पयन्समे ॥४९॥

व्रज से पुरानी सखियाँ राधा आदि बहुत लोग तथा हस्तिनापुर से मित्र लोग भी पहुँचे और सब ने अलग-अलग टोली बना कर निवास किया ॥४९॥

हरिरप्यगमत् सपर्वणि सह पत्नी प्रभृति स्वबन्धुभिः ।
वितते कृतवान् महीतले स्वनिवासं सुखदं मनोरमम् ॥५०॥

भगवान् (कृष्ण) भी अपनी पत्नी, भाई आदि परिवारों के साथ पहुँचे और उन्होंने अपना सुखद निवास विस्तृत क्षेत्र में बनाया ॥५०॥

पटवेश्मनि पाण्डवा हरेः समगच्छन्नलपितु सदारकाः ।
अति मोद प्रफुल्लचेतसां विविधा भूत्खलु वार्तिका मुहुः ॥५१॥

युधिष्ठिर आदि पाण्डु पुत्र अपनी पत्नियों के साथ भगवान् के खेमे में मिलने गये । अत्यन्त आनन्दचित्त उन लोगों के बीच बार-बार तरह-तरह की बातें हुईं ॥५१॥

अथ भीष्मसुतादयः स्त्रियः श्रुत राधादिसखी सुप्रीतयः ।
प्रणयेन समाह्वयन् व्रजवनितास्ता समभर्तृका ययुः ॥५२॥

रुक्मिणी आदि स्त्रियाँ राधा आदि सखियों के विशिष्ट प्रेम के बारे में सुन चुकी थीं । उन्हें (राधा आदि को) उन लोगों (रुक्मिणी आदि) ने प्रेम से आमन्त्रित किया और व्रजवासिनियाँ भी अपने-अपने पति के साथ वहाँ गयीं ॥५२॥

मिलिता प्रथमं व्रजौकसः हरिणा बालसखा प्रमोदतः ।
वृषभानुसुतादिभिः सह प्रणयाद्भीष्मसुतादयः स्त्रियः ॥५३॥

बालपन के मित्र व्रजवासियों ने पहले बड़े हर्ष के साथ कृष्ण से भेंट की और रुक्मिणी आदि भी राधा आदि से प्रेम से मिलीं ॥५३॥

अभवत्सह भोजनं तदा सखिभिः कृष्णमनुव्रतैः समम् ।
परिहास कथानुरञ्जिताः बुभुजुः प्रेमभराश्च ताः स्त्रियः ॥५४॥

बाद कृष्ण के अनुयायी मित्रों के साथ सहभोज हुआ। मनोरञ्जक बातों से प्रमोदित उन स्त्रियों ने बड़े प्रेम से भोजन किया ॥५४॥

शयनावसरे पृथक् पृथक् परिचर्यां विदधुर्हरिप्रियाः ।
तत एकतया च राधिकाम् मधुरं दुग्धमपायत् स्वयम् ॥५५॥

सोने के समय में कृष्ण-पत्नियों ने उनकी अलग-अलग सेवा की। उनमें से एक ने राधाजी को स्वयं मीठा दूध पिलाया ॥५५॥

अथ सोपगता हरिं तदा विकलं कृष्णमलोकयद्भृशम् ।
अति शून्यमना हरेर्वपुः सकलं स्वेदभरार्द्रशीतलम् ॥५६॥

बाद कृष्ण के निकट जा कर उसने उन्हें अत्यन्त व्याकुल देखा। अत्यन्त शून्य-मन कृष्ण का सारा शरीर पसीना से भींग कर ठण्डा हो रहा था ॥५६॥

विकलत्वनिदानमाशु सा समपृच्छद्धरिमाह सोऽप्यरम् ।
अवलोकय राधिकां द्रुतं किमवस्था खलु साऽधुनाऽभवत् ॥५७॥

उस स्त्री ने भगवान् से व्याकुलता का कारण पूछा। उन्होंने भी शीघ्र कहा—"जल्दी से राधा को देखो कि इस समय वह किस अवस्था में हैं" ॥५७॥

उपगम्य च राधिकामसौ तदवस्थामवलोक्य विस्मिता ।
विदधावथ शीतसेवनमिह राधा प्रकृतिस्थिताऽभवत् ॥५८॥

वह स्त्री दौड़ कर राधा के पास गयी और उन्हीं की (कृष्ण की ही) अवस्था में उन्हें देखा तो आश्चर्यचकित हो गयी। बाद उसने राधाजी का शीतोपचार किया जिससे वह स्वस्थ हो गयीं ॥५८॥

अथ कृष्णमुपेत्य साद्रुतमवलोक्य स्थिरमानसं तदा ।
किमिदं सरहस्यमद्भुतमभवद् ज्ञातवतीति प्रश्नतः ॥५९॥

कृष्ण के पास शीघ्र जा कर उसने उन्हें स्वस्थचित्त देखा। यह रहस्यमय आश्चर्य क्या है ?—ऐसा प्रश्न करने पर उसे वास्तविकता की जानकारी हो गयी ॥५९॥

हरिरस्ति च राधिकावपुरपि, राधा हरिरेव निश्चयः ।
न कदापि हि भिन्नता तयो र्न तथा वेत्त्यबुधो ध्रुवं हि सः ॥६०॥

हरि (कृष्ण) राधिका के शरीर से विराजमान हैं और राधा ही हरि (कृष्ण) हैं—यह निश्चय है। उन दोनों में पृथकता नहीं है। जो यह नहीं जानते वह निश्चय ही अज्ञानी हैं ॥६०॥

पुनरप्यगमत्स्वकं गृहं स समाजो य इहागतो, हरिः ।
गतवान् स्वपुरीं सवर्गकः मनसा किञ्चिदचिन्तयत्ततः ॥६१॥

बाद यहाँ आये हुए सब लोग अपने-अपने समाज के साथ अपने घर गये। कृष्ण भी अपने समाज के साथ अपना घर लौटे। तब उन्होंने मन में कुछ सोचा—॥६१॥

अवतारितवान् भुवो भरं पुनरन्यं च तथा न्यवेशयम्।
मम सन्ततिरुद्धता स्थिरा न च तस्यास्तु पराभवः क्वचित् ॥६२॥

"मैंने पृथ्वी का भार उतार दिया और पुनः दूसरों को उस (उचित) स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। परन्तु मेरी सन्तान बड़े उद्धत हैं और वे वर्तमान हैं। उनकी पराजय कहीं भी नहीं हो सकती (क्योंकि वे मेरे अंशज हैं) ॥६२॥

निज धाम परं कथं विना स्वजनान् याम्यवधिश्चपूरितः।
द्विजशापमिषेण तान् हतान् विदधे पूर्वमतो व्रजाम्यहम् ॥६३॥

"अपने लोगों को साथ लिए बिना मैं अपना (परम) धाम कैसे जाऊँ? साथ ही (पृथ्वी पर रहने की) मेरी अवधि भी पूरी हो गयी है। अतः ब्राह्मण के शाप के बहाने पहले उन्हें मार देता हूँ। बाद में मैं जाऊँगा" ॥६३॥

इति मनसि विचिन्त्यासौ तथैवाशु कृत्वा
निज प्रियजन मुख्यायोद्धवाया नताय।
विविध विमलबोधं मुक्तिदं बोधयित्वा
सह निज परशक्त्या धाम नित्यं जगाम ॥६४॥

अपने मन में ऐसा सोच कर तथा शीघ्र ही वैसा करके अपने प्रिय पात्रों में प्रधान प्रणत उद्धवजी को अनेक मुक्तिदायक निर्मल ज्ञान का उपदेश दे भगवान् कृष्ण स्वयं परशक्ति के साथ अपना नित्य धाम (गोलोक) चले गये ॥६४॥

ययायत् कृष्णरूपेण निजरूपेण वा कृतम्।
सनातनीं ब्रह्मरूपां तां राधां प्रणमाम्यहम् ॥६५॥

जिस राधाजी ने कृष्णरूप से अथवा अपना राधारूप से जो कुछ किया उस सनातनी ब्रह्मरूपा राधा को प्रणाम करता हूँ ॥६५॥

इति श्रीराधाचरितम् ॥

॥ कथाकाव्यसंग्रहः समाप्तः ॥



महाकवि श्रीमत्पण्डित
रामावतार मिश्र
(जन्म १३-१-१८९९
मृत्यु २४-६-१९८४)
ग्राम – बेनीपुर, पो०—टेकारी,
जिला गया (बिहार)

महाकवि मिश्रजी के अन्य
सुरभारती ग्रन्थ

प्रकाशित

१ श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्

अप्रकाशित

२ रुक्मिणीमङ्गलं महाकाव्यम्
३ भारतवर्षेतिहासः (श्लोकबद्धः)

लक्षण-ग्रन्थ

४ व्यञ्जनोद्धारः
५ रसचन्द्रिका

अन्य कृतियाँ

६ सुरभारती
७ श्रीगुरुवंश वर्णनम्
८ बन्धकाव्यम्
९ स्फुट श्लोकाः

सम्पादक एवं टीकाकार
डॉ० शिवशङ्कर पण्डित
(जन्म २०-८-१९३३)
ग्राम—सेनारी, पो० – खटाँगी,
जिला –गया (बिहार)
संप्रति—रीडर, अङ्ग्रेजी विभाग,
सेण्ट जेवियर्स कॉलेज, राँची (बिहार)

